दर्पण

लक्ष्मीनारायण लाल

पीताम्बर बुक डिपो

नई दिल्ली

लक्ष्मीनारायण लाल

दर्पन

दर्पन

© डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल

[मूल्य-३/५० रु० केवल]

[द्वितीय संस्करण : जुलाई १९७७]
[तृतीय संस्करण : जुलाई १९७८]

[This book has been printed on the paper supplied by Government of India at concessional rates.]

प्रकाशक :
पीताम्बर बुक डिपो
८८८, ईस्ट पार्क रोड, करौल बाग,
नई दिल्ली-११०००५

मुद्रक :
पीताम्बर प्रिंटिंग प्रेस, दिल्ली-११०००६

अभिनय-प्रदर्शन, अनुवाद, प्रसारण और फिल्मीकरण
आदि के लिए लेखक की लिखित पूर्व-
अनुमति आवश्यक है !

अनुक्रमणिका

आधुनिक हिन्दी नाटक	१ से ११
दर्पन नाटक के बारे में	२२ से २६
नाटककार लक्ष्मीनारायण लाल और उनकी कृतियों का परिचय	२७ से २९
दर्पण	१ से ७५
नाटक के अध्यापकों के प्रति सुझाव	क
प्रश्न और अभ्यास	ख से च
अन्तर्कथाएँ	छ से ज

आधुनिक हिन्दी नाटक

जब हम नाटक अथवा रंगमंच को आधुनिक विशेषण से जोड़ते हैं तब हम उस तथ्य को रेखांकित करना चाहते हैं जो श्रेष्ठ नाटक और रंगमंच की आत्मा में सदैव विद्यमान रहा है—वह सत्य है अपने युग के यथार्थ से साक्षात्कार का। यह साक्षात्कार हर युग-काल में जिस संदर्भ और जितने आयाम से कोई नाटककार अपने परिवेश के साथ करता है उतने ही अर्थ में उस देश, काल और भाषा का नाटक और रंगमंच आधुनिक होता है।

भारतेन्दु आधुनिक हिन्दी नाटक तथा रंगमंच के पहले कृतिकार थे। इनके काल में जो परिवेश इन्हें प्राप्त था वह था सामाजिक मान्यताओं के स्तर पर नए पुराने संघर्ष का ब्रिटिश राज्य अथवा अंग्रेजी संस्कृति बनाम हिन्दू सभ्यता और संस्कृत का। इन दोनों परिस्थितियों के बीच भारतेन्दु को अपना नाटककार-व्यक्तित्व प्राप्त करना था। प्रकट है कि भारतेन्दु के ऊपर एक ओर संस्कृत नाट्य परम्परा का प्रभाव है तो दूसरी ओर ऐतिहासिक रोमांस का, तो तीसरी ओर रामलीला और रासलीला का, चौथी ओर नारी समस्या भी एक नये प्रसंग में विकसित होती है। अध्ययन करने पर भारतेन्दु का समूचा नाट्य साहित्य इन विभिन्न धाराओं का मनोरंजक समूह-सा लगता है। 'प्रेमजोगिनी', 'विषस्य विषमौषधम्', 'कर्पूर मंजरी'—इन नाट्य कृतियों के आधार पर भारतेन्दु संस्कृत नाटक और रंगमंच के क्षेत्र से क्रमशः नाटिका, भाण और सट्टक—इन-रंग प्रकारों का अन्वेषण कर रहे थे और शायद उनका यह भी प्रयत्न था कि संस्कृति की इन महिमामयी परम्पराओं को फिर से हिन्दी में समादृत किया जाए। इसी तरह से ऐसे और भी अनेक नाटक हैं जो संस्कृत की रामलीला, रासलीला और

संस्कृत के अन्य मध्ययुगीन नाट्य प्रकारों की स्थापना के उदाहरण मात्र लगते हैं। इससे इन नाटकों का प्रधान पक्ष शिल्प है कथ्य नहीं। कथ्य के स्तर पर इनके दो नाटक 'सत्य हरिश्चन्द्र' और दूसरा 'अन्धेर नगरी' ऐसे अवश्य हैं जिनका अध्ययन आधुनिकता के संदर्भ में कर सकते हैं। 'सत्य हरिश्चन्द्र' अपने शिल्प में संस्कृत नाटक का शिल्प है, किन्तु अपने काव्य में यह नाटक हरिश्चन्द्र के चरित्र की उस करुणा को व्यक्त करता है जहाँ सत्य के पालन में मनुष्य को बाजार में दयनीय स्थिति में बिकना पड़ता है और मानवता के श्मशान पर अपने पुत्र के शव के सामने अपनी ही पत्नी से कफन के लिए कहना पड़ता है। यह १९ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के मनुष्य के संघर्ष की एक झाँकी है जो यथार्थ भी है और करुण भी ! दूसरी ओर 'अंधेर नगरी' में अपने समय के परिवेश पर गहरा और व्यंगात्मक प्रहार किया गया है।

भारतेन्दु के बाद प्रसाद ने नाटक भूमिका को एक साहित्यिक स्तर दे दिया और उसे "आत्मानुभूति" से जोड़ दिया। इस तरह प्रसाद के द्वारा नाटक के क्षेत्र में बाहरी समाजालोचना व समाज-सुधार—इन सबसे बहुत गहरे मानवीय संघर्ष और उसके व्यक्तित्व की सार्थकता के प्रश्नों को जोड़ देने का कार्य किया गया। 'चन्द्रगुप्त', 'स्कन्दगुप्त', और 'ध्रुवस्वामिनी'—तीनों नाटक ऐसे हैं जो अपने परिवेश में ऐतिहासिक हैं, राजनैतिक प्रश्नों को लिए हैं किन्तु वास्तव में ये तीनों नाटक मनुष्य के महत्वपूर्ण दस्तावेज हैं। इन स्तरों पर ये नाटक अपने अर्थ में आधुनिक हैं। इनका ऐतिहासिक परिवेश निश्चय ही तत्कालीन समस्याओं से उद्भूत है और वे तीनों नाटक ऐतिहासिक होते हुए भी समसामयिक है। चन्द्रगुप्त, चाणक्य, भटार्क, विजया, अनन्तदेवी और ध्रुवस्वामिनी—इन सारे चरित्रों के माध्यम से हम १९२९ से १९३६ तक के भारतवर्ष का सम्पर्ण स्वरूप देखते हैं।

दूसरी ओर चन्द्रगुप्त के भीतर जो चारित्रिक संघर्ष है और जो उसमें द्वैत हैं उन दोनों से वह लड़ता-जूझता हुआ अपने आपको नाटक के अन्त में पाता है, उतने अर्थ में वस्तुतः 'स्कन्दगुप्त' एक आधुनिक नाटक सिद्ध होता

है। रंगमंच के स्वरूप में भी प्रसाद के नाटक बहुत ही सम्भावनाओं और रंग-शक्तियों से परिपूर्ण हैं। इन नाटकों का दोष केवल यह है कि ये अपने विस्तार में एक संवेदना से अधिक बाहरी तथ्यों को भी अपने में समेटे रहते हैं, जैसे—धर्मों में समन्वय की समस्या, नीच-ऊँच की समस्या, भारतीय एकता की समस्या, विभिन्न संस्कृतियों की सामाजिकता की समस्या। किन्तु ये सारी समस्याएँ बहुत गौण रूप में नाटक से जुड़ी हैं और इनका मूल संवेदना से कोई महत्त्वपूर्ण योग नहीं है।

यह सच है कि हिन्दी क्षेत्र में लोक रंगमंच की परम्परा अबाध रूप से विद्यमान थी। रामलीला, कृष्णलीला, स्वांग, भगत, नौटंकी आदि सब थे। पर इनका सम्बन्ध उस बदले हुए समय, युगबोध से कतई नहीं था। राम या कृष्ण की कथा में न कोई परिवर्तन कर सकता था, न उस परम्परा के लोगों में यह प्रतिभा थी कि लीला, स्वांग और नौटंकी को तत्कालीन स्थितियों से जोड़कर उसे जीवंत बनाने तथा उसमें समसामयिकता के तत्व बो देते, जैसे कि बंगाल में उनके परम्परागत लोकनाट्य 'यात्रा' में हुआ और उसमें से आगे पैदा हुई एक नाट्य परम्परा।

हिन्दी में उस नयी नाट्य परम्परा की एक सार्थक तलाश भारतेन्दु का 'अन्धेर नगरी' नाटक है और यह एक तलाश भारतेन्दु ने कितनी लम्बी यात्रा तय कर ली है—संस्कृत के सभी नाट्यकारों, रूपों को लिखकर। रंगमंच पर विचार करके और 'नाट्य मंडली' स्थापित कर, नाटकों का स्वयं अभिनय-निर्देशन कर। 'अन्धेर नगरी' कितनी परम्पराओं को अपने में पचाकर अपने समय में उत्पन्न सामाजिक जीवन का एक यथार्थ रूपक है जिसकी भाषा, रूपबंध और समूचा रंगमंच हिन्दी की अपनी मौलिक कृति है। पर इसके बाद यह परम्परा वहीं की वहीं रुक गई, और ठीक इसके विपरीत पारसी थिएटर विकसित होता रहा। विकसित इस अर्थ में कि यह समय के अनुसार राष्ट्रीय चेतना, धर्म और समाज के पुनरुत्थान की चेतना को अपना विषय बनाने लगा। इसलिए नहीं कि उसे इन विषयों में किसी प्रकार की स्वयं आस्था थी, बल्कि इसलिए कि उस काल का दर्शकवर्ग वही विषय चाहता था और इसी भावना में वह रंगा था।

पर यह विषय भावना उतनी ही जितनी कि उस समय की अंग्रेजी हुकूमत

की नज़र में कहीं खटके नहीं। प्रथम महायुद्ध के बाद से तीसरे दशक, के अन्त तक, यह इतना काल पारसी थिएटर की चरम सफलता का काल है और हिन्दी भाषा क्षेत्र के लिए यह काल 'स्वदेशी आंदोलन', 'असहयोग आंदोलन', 'क्रांतिकारी संघर्ष' का समय है। इसके जवाब में अंग्रेज़ी हुकूमत की ओर से क्रमशः यह 'रौलेट एक्ट', 'जलियाँवाला हत्याकांड', 'कम्यूनल एवार्ड' और 'दमन' के अन्य क्रूर चक्र काल हैं।

ऐसी परिस्थिति से पारसी थिएटर को दोधारी तलवार पर चलना पड़ा। हिन्दीभाषी क्षेत्र की जनता की भावना का ख्याल, और अंग्रेज़ी हुकूमत से भय। इन दोनों परस्पर विरोधी स्थितियों का हल पारसी थिएटर ने ढूँढ़ निकाला राष्ट्रीय चेतना, पुनरुत्थान की भावना पर इश्क, मेलोड्रामा, रोमानियत का चटक रंग चढ़ा देना। इसके बाद भी यदि कहीं राष्ट्रीय चेतना, भारत का गौरव, स्वदेश भावना, हिन्दुत्व दिखे, तो उसे अजीबोगरीब सीन-सीनरियों, चमत्कारपूर्ण रंगमंचीय करिश्मों में इस तरह ढाप दिया जाये कि दर्शक उसी बाह्य से चमत्कृत रह जाए और इसके ऊपर गाने, रक्स, नाच वगैरह की चाश्नी में सब कुछ अजीब ढंग से मीठा-मीठा कर दिया जाये।

इस प्रसंग में यहाँ एक बात और उल्लेखनीय है कि जैसे-जैसे राष्ट्रीय चेतना हिन्दी भाषा और इसकी संस्कृति से जुड़ती गयी है, वैसे-वैसे पारसी कम्पनियों ने धर्मकथावाचकों (राधेश्याम), हिन्दू धर्म, पुराण और इतिहास को उसी निष्ठा से देखने वाले नारायण प्रसाद 'बेताब' को महत्त्व देना शुरू किया। शुद्ध हिन्दी भाषा और हिन्दी छंद, गीत और इतिहास, पुराण की सीधी कथा। राष्ट्रीय भावधारा, हिन्दुत्वगरिमा वतन की आबरू पर कुर्बान हो जाना। इसके कितने सारे उद्धरण पारसी नाटक में से दिए जा सकते हैं।

.....बेवकूफ सुन, अपने एहले वतन के दिल से मौत का डर दूर करने के लिए मुझे ज़िन्दा रहने की ज़रूरत थी, और शुक्र है कि मैं ज़िन्दा हूँ, लेकिन सोहराब के लिए नहीं, अपने मुल्क के लिए, मुहब्बत के लिए नहीं, अपने वतन

की खिदमत के लिए.....

(ग. आफरीद : बाब दूसरा, सीन छठा, रुस्तम व सोहराब)

कुसंग वाला कहे धर्म, तो कहना धिक्कार।
और परतन्त्र का, संसार में रहना धिक्कार॥

(द्रोणाचार्य : पहला अंक, सातवाँ सीन, 'वीर अभिमन्यु)

'इधर देख, यह भारत की हिन्दु लड़की, जिसकी जात में परमात्मा ने शकुंतला की खूबसूरती, सीता का पतिव्रत धर्म और राधिका का प्रेम जमा कर दिया है, इसके लिये मुहब्बत का बर्ताव और अपने वास्ते आज्ञाकारी स्वभाव.....।'

(रामदास : पहला अंक, सीन छठा, 'बिल्वामंगल')

गाफिल पड़े सोते हैं जो, बैठे हुये जो मौन हैं,
समझें तो दिल में जान लें भारत निवासी कौन हैं।
जो वीर थे कायर बने, ज्ञानी बने अज्ञान हैं,
यह भी तो हैं भूले हुये किस बाप की संतान हैं।
जो कह दिया करके रहे थे बात के कैसे धनी
छोड़ा नहीं निज धर्म को प्राणों पै चाहे आ बनी।

('बेताब'—'महाभारत', पहला दृश्य, प्रस्तावना)

पर ये सारी भावनायें, उद्‌गार, उपदेश, भाषण के रूप में आये तिस पर भी इसे क्रमशः संतुलित किया (ढके रखा) मुहब्बत की दीवानगी ने, राजा बहादुर और खटपटसिंह की विदूषकी ने, सौभागचन्द, हरीदास मारवाड़ी चरित्रों, मिरासी, तबलची, तमाशबीनों के हास्य ने तथा चेता चमार, सत्ती गोपी के अति विषयांतर प्रसंगों ने।

बिल्कुल ठीक इसी के समांतर इसी काल में जयशंकर प्रसाद अपने पौराणिक तथा ऐतिहासिक नाटकों में इसी पुनरुत्थान की भावना और राष्ट्रीय गौरव को किशोर मन की भावुकता और छायावादी कुहेलिका में ढक कर, उसपर अस्पष्टता का झीना-सा आवरण चढ़ा कर अभिव्यक्त कर रहे

थे। यह अत्यंत उल्लेखनीय है कि भारतेन्दु ने ऐसा कहीं नहीं किया है। वह जहाँ हैं, वहाँ एक तो स्पष्ट सीधे हैं और उस पर उन्होंने पारसी थिएटर के नाट्यतत्त्वों को अपना माध्यम नहीं बनाया है। जो उन्होंने प्रकट करना चाहा है, उसके लिये उन्होंने पारसी थिएटर से स्वतन्त्र, अपना सर्वथा अलग रूप-बन्ध तैयार किया है। इसका कारण था कि प्रसाद के विपरीत भारतेन्दु प्रत्यक्ष रंगमंच से जुड़े थे और स्वतन्त्र नाट्यपरम्परा के लिये संघर्षरत थे।

प्रसाद ने ठीक इसके विपरीत किया। उन्होंने नाटक का रूपबन्ध और रंगमंच का पूरा विधान सीधे पारसी थिएटर से ज्यों का त्यों ले लिया और पारसी थिएटर के विपरीत (प्रतिक्रिया स्वरूप) उन्होंने उसमें काव्यात्मकता, साहित्यिकता भर दी। यह बिलकुल वैसे हुआ, जैसे शराब की बोतल (विदेशी) में गंगाजल भर देना। यदि प्रसाद ने भारतेन्दु की परम्परा में रंगमंच को देखा होता, उससे वह प्रत्यक्ष सम्बंधित होते तो निश्चय ही वह अनुभव करते कि काव्यात्मक वस्तुविषय के लिये पारसी रंगमंच का रूपबन्ध बिलकुल विपरीत पड़ता है। इससे भी आगे प्रसाद को अपने लिए एक रंगशैली का अन्वेषण भी करना था, जिसे वह अन्ततः नहीं कर सके। कथा और चरित्र विधान में पारसी थिएटर के विपरीत (मुख्यतः आगा हश्र की नाट्य-कला के) उन्होंने तीन अंकों, अर्थात् चरमसीमा से आगे 'फलागम' (संस्कृत) और समाहार (डिनाउमेंट'—शेक्सपियर) तक सोचा, और उसी के अनुरूप कथा, चरित्र और अंकदृश्य योजना बनायी। संस्कृत रंगमंच का नाटक आरम्भ से चल कर 'फलागम' तक पहुँचने के लिए, और शेक्सपियर थिएटर का ड्रामा 'उद्घाटन' से लेकर 'समाहार' तक जाने के लिए पारसी थिएटर जैसे रूप विधान सहारा न लेकर शुद्ध अयथार्थवादी, काव्यात्मक (काल्पनिकता) रंगविधान को अपना माध्यम बनाता है। और तभी निर्देशक, अभिनेता और दर्शक की कल्पना, सृजन शक्ति को जगाता हुआ कई स्तरों पर अपने आपको निर्मित और सम्पूर्ण करता है।

पारसी थिएटर का सारा रंगविधान प्रसाद के नाट्य विषय और भाव-बोध से बिलकुल विपरीत पड़ने के कारण, नाटककार प्रसाद की शक्ति को खंडित नहीं करता, उन्हें बिखेर देता है। पारसी थिएटर जैसे 'इश्क' और

राष्ट्रीयता के दो विरोधी घोड़ों पर चढ़ा था, ठीक उसी तरह प्रसाद की समूची नाट्यकला पारसी थिएटर और 'आत्मा की संकल्पनात्मक अनुभूति' के परस्पर विरोधी अश्वों पर आसीन थी। जहाँ सारा दृश्यत्व रंगे हुए पर्दों, सीन-सीनरियों और अभिनय से लेकर यांत्रिक प्रभावों तक सीमित है, वहाँ काव्य के लिए कल्पना और गहराई की कोई गुंजाइश नहीं हो सकती। वहाँ काव्य केवल संवाद में हो सकता है या गीतों में। यही प्रसाद के नाटकों में हुआ भी।

इतना ही नहीं प्रसाद के काव्यस्तर पर वही कथित, सूचित, पारिभाषित राष्ट्रीयता, नवोत्थान, समाज सुधार का अतिस्वर छाया रहा।

'आर्य! इस गुरुभार उत्तरदायित्व का सत्य से पालन कर सकूँ और आर्य राष्ट्र की रक्षा मे सर्वस्व अर्पण कर सकूँ, आप लोग इसके लिए भगवान से प्रार्थना कीजिये और आशीर्वाद दीजिये कि स्कंदगुप्त अपने कर्त्तव्य से, स्वदेशसेवा से कभी विचलित न हो।' (स्कंदगुप्त)

'भटार्क यदि कोई साथी न मिला तो साम्राज्य के लिये नहीं जन्मभूमि के उद्धार के लिये मैं अकेला युद्ध करूँगा।' (स्कंदगुप्त)

दो परस्पर विरोधी रंग प्रवृत्तियों के प्रयोग के कारण, तथा नाटक में पाठ्य आग्रह के कारण विषय, कथा, चरित्र और अंकविधान के स्तर पर अनेक सीमायें और सामने आती हैं।

एक ओर प्रसाद ऐतिहासिक नाटक लिखने के पीछे प्राचीन भारत के मौलिक इतिहास के अन्वेषक होना चाहते थे, दूसरी ओर जैसे 'बेताब' और 'राधेश्याम' ने क्रमशः 'महाभारत' और 'वीर अभिमन्यु' में समूचे महाभारत का सार और पूरी अभिमन्यु गाथा कह डालना चाहा है। ठीक इसी तरह प्रसाद ने चंद्रगुप्त और स्कंदगुप्त में ऐतिहासक कथाओं से दोनों कालों की समूची तत्कालीन सांस्कृतिक परिस्थितियों को अभिव्यक्त करने का प्रयत्न किया है और इन्हें नाटक भी बनाना चाहा है। इसका फल यह हुआ है कि इन दोनों नाटकों में 'वस्तुकाल' बहुत ही लम्बा हुआ है। ठीक वैसे जैसे 'बेताब' के

'महाभारत' में। चंद्रगुप्त का वस्तुकाल पच्चीस वर्ष का है (जो भारतीय नाट्यशास्त्र से वर्ज्य है, पर पारसी थिएटर के अनकूल है)। इस लम्बे काल से किस प्रकार नाटक को हानि पहुँचती है, यह इससे स्पष्ट हो जाता है कि जो लोग आरंभ में किशोर या युवा थे, उन्हें स्वभावत: अन्त: प्रौढ या वृद्ध हो जाना चाहिये। पर नाटककार 'बेताब' 'राधेश्याम' की तरह तथ्य पर ध्यान न दे कर उन्हें वहीं रखता जाता है। और 'कार्नेलिया', 'कल्याणी', 'मालविका', 'सुवासिनी', 'चन्द्रगुप्त', 'राक्षस' आदि पच्चीस वर्ष बाद भी युवा ही हैं। इतिहास और नाटक दोनों स्तरों पर ऐसी अनेक सीमायें और दोष सामने आते हैं।

पारसी थिएटर में दर्शक को लुभाने तथा पूरी कथा बताने के लिये एक से एक चमत्कारमूलक दृश्यों की अवतारणा की जाती थी। चंद्रगुप्त में भी ऐसे चमत्कारमूलक दृश्यों के मोह ने इसे रचनागत अराजकता से भर दिया है। चार अंकों का यह नाटक उनचास दृश्यों में फैला है—जैसे 'बेताब' का 'महाभारत'। घटना-वैचित्र्य लाने के लिये अकारण दृश्य बढ़ाये गये हैं और पात्र भी। चंद्रगुप्त का कल्याणी को चीते से और कार्नेलिया को मनुष्य रूपी चीते फिलिप्स से बचाना, 'रुस्तम' की याद दिलाता है। इसमें और भी अनेक घटनायें कृपाण युद्ध, काव्यव्यापार—विशुद्ध पारसी थिएटर के समान होने के कारण नाटक को अनावश्यक रूप से अतिरंजना प्रधान बनाते हैं, और इसके काव्यत्व को स्वभावत. तोड़ते हैं।

अंकों की शुरुआत 'रुस्तम सोहराब' के विधान की याद दिलाती है, पर इनके अन्त झांकी (टैब्लो) विधान के अनुरूप होते हैं और 'बेताब' 'राधेश्याम' का प्रभाव सामने आता है। दृश्य, प्रवेश, प्रस्थान, काव्यव्यापार —इन सब पर 'हश्र', 'बेताब', 'डी० एल० राय,' 'राधेश्याम' के परस्पर विरोधी प्रभाव उल्लेखनीय हैं। अन्तत: प्रसाद की कोई रंगशैली तभी स्पष्ट उभरकर नहीं आती।

लगता है प्रसाद ने अपनी इस रंगमंच सीमा को 'ध्रुवस्वामिनी' तक पहुँचते-पहुँचते स्वीकार किया है और 'ध्रुवस्वामिनी में वह यथार्थवादी

रंगमंच-शैली की ओर झुके हैं। इससे पहले के किसी भी नाटक में उन्होंने दृश्यसज्जा या मंच दृश्य का इतना विधिवत् विधान नहीं दिया है। केवल 'स्कंधावार', 'राजप्रासाद', 'प्रकोष्ठ', 'श्मशान', 'युद्धस्थल' आदि एक शब्द से वह पूरे दृश्य का संकेत कर देते थे; पर यहां 'ध्रुवस्वामिनी' में उन्होंने बाकायदा दृश्यों का विधिवत् नाटकीय हेतु चयन किया है, पर ध्यान देने की बात यह है कि यथार्थवादी रंगमंच जैसा उनका नाट्य विधान ही नहीं है। तभी मंचसामग्री, मंचविधान नाटक के जीवन से मर्मनिष्ठ न हो, मात्र इसकी शोभा के रूप में इस्तेमाल हुआ है। जबकि यथार्थवादी मंच की प्रत्येक वस्तु, मूक पात्र के रूप में सजीव ढंग से नियोजित होती है और उनसे व्यंजना, अर्थवत्ता पैदा की जाती है। यह सब 'ध्रुवस्वामिनी' की नाट्य दुनिया से बाहर की बातें हैं।

इन सब सीमाओं के बावजूद प्रसाद के नाटक की कुल उपलब्धियां उल्लेखनीय हैं, जिन्हें उनकी रंगमंचगत सीमाओं से वेध कर प्राप्त किया जा सकता है।

काव्यतत्त्व, प्रमुख उपलब्धि है, जो नाटक को सही अर्थों में नाटक सिद्ध करते हैं। इसी तत्व से मुख्यता 'स्कंदगुप्त', 'ध्रुवस्वामिनी' में एक अजब तरह का संमोहन है, जो आज तक बना हुआ है।

उन्होंने इतिहास पुराण को पारसी थिएटर के नाटककारों की तरह न देखकर उसे अपने समय से जोड़ा है और इस तरह उनकी रचना भी की है। अपने समय की समस्त राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक चेतना को उन्होंने अपने ढंग से छुआ है और उनको ऐतिहासिक मानवीय गहराइयों में ले गये हैं।

दृश्यत्व के साथ काव्यत्व को जोड़ने का प्रयत्न इनमें उल्लेखनीय है। इसीलिए पारसी थिएटर को सर्वथा भूलकर या काटकर यदि कल्पना की आँखों से 'स्कंदगुप्त' को देखा जाये तो एक महवत्पूर्ण नाटक और रंगमंच उससे उभरता है। ऐसा रंगमंच जो हिन्दू सौन्दर्यबोध, स्थापत्य, वस्त्र रंगरूप सब की ओर सार्थक संकेत देता है।

में 'शुगरकोटेड' कुनेन की व्यवस्था है ही नहीं। वह तो तीक्ष्ण सत्य है, उसका घाव गहरा तो होता है लेकिन अंगभंग करने के लिये नहीं, मवाद निकलने के लिये, हमारी प्रसुप्त चेतना को जगाकर हमारे भीतर नवीन जीवन और नवीन स्फूर्ति पैदा करने के लिये।

इस बुद्धिवाद, और व्यक्तिवाद के भीतर मिश्रजी ने नाटक सम्बन्धी जो मान्यताएँ बनायीं, उन्हें इन बिन्दुओं से देखा पकड़ा जा सकता है।

☐ बुद्धि और तर्क के भीतर से ही यथार्थ की अभिव्यक्ति नाटक में हो सकती है, भावना या कल्पना से नहीं।

☐ यही और ऐसा ही यथार्थवादी नाटक, नाटक कहलाने का अधिकारी है। इन दोनों भावबिन्दुओं को देखने से प्रकट है कि यथार्थवाद की यह प्रेरणा इन्होंने इब्सन से ली। मतलब जहाँ पारसी नाटक और रंगमंच, तथा प्रसाद का नाटक और रंगमंच शेक्सपियर और विक्टोरिया नाट्य परम्परा से प्रत्यक्ष ढंग से जुड़ा है, वहाँ इन्होंने इन दोनों की प्रतिक्रिया में, अपने 'नाट्य' का सम्बन्ध उससे आगे बढ़कर इब्सन से जोड़ा।

पर 'इब्सन' के 'नाट्य' का यथार्थवाद वह नहीं है जो मिश्रजी ने ग्रहण किया। वह महज उसके यथार्थ का बाहरी ढाँचा है, जो ऊपर से 'समाज सुधार', 'समाजालोचन' और परम्परा के प्रति 'विद्रोह' सा दिखाता है। यह यथार्थ उतना ही नहीं है जो परस्पर बोलचाल की भाषा में (वाद-विवाद) प्रकट होता है या घर-गृहस्थी, कमरे या ड्राइंगरूम के परिवेश के भीतर से अपने को प्रत्यक्षतः प्रकट कराता दिखता है। वह यथार्थ नहीं महत्तर यथार्थ इन सब साधनों से कहीं आगे अप्रत्यक्ष रूप से विकसित, स्वनिर्मित होकर काव्यात्मक यथार्थ के धरातल पर जा पहुँचता है।

और बुनियादी सवाल यही उभरता है—मिश्रजी ने इब्सन से वह बाहरी यथार्थ ही क्यों ग्रहण किया? क्यों इन्होंने इब्सन के सम्पूर्ण यथार्थवादी रंगमंच को नहीं लिया? उन्होंने क्यों प्रत्यक्ष बुद्धि, तर्क के ही सहारे मानव समस्या का केवल सामाजिक 'समस्या' के ही स्तर से सोच-विचार किया?

दरअसल नाटक के रंगमंच की दुनिया एक अप्रत्यक्ष संसार है। यूँ यह

प्रत्यक्ष तो सबसे ज्यादा है, पर नाटक का यह प्रत्यक्षीकरण अभिनेता, निर्देशक, रंगशिल्पी की मध्यस्थता से मंच पर दर्शक के सामने होता है। यह एक विशिष्ट विधा ही नहीं, सब विधाओं से ज्यादा यह दूसरों से (दूसरी कलाओं, मनुष्य, कलाकार, अनुभव, सृजन) संयुक्त है।

पारसी थिएटर की प्रतिक्रिया में यही संपृक्तता पहले प्रसाद से टूटी और प्रसाद के बाद दूहरी प्रतिक्रिया से यह 'मिश्र', 'सेठ', 'प्रेमी' आदि के द्वारा तोड़ी गयी। प्रसाद काव्यात्मकता को लेकर टूटे, पर ढाँचा 'पारसी थिएटर' का ही रखा। इसलिये वह कैसे भी हो, रंगमंच के विधान के अन्दर कहीं-न-कहीं संपृक्तता है। काव्यात्मकता उस टूटन में कहीं महत्वपूर्ण सेतु भी बनी है। यह सब इसलिये भी हुआ कि प्रसाद ने यथार्थ को कवि के धरातल से ग्रहण किया और उनका नाटककार 'व्यक्ति' की अपेक्षा मानवीय 'सामाजिक' ज्यादा रहा।

'प्रसाद' के बाद इन सभी नाटककारों (गोविन्द बल्लभ पंत को छोड़कर) ने रंगमंच से सर्वथा कटकर जिस दुनिया में जाकर नाटकों को लिखा, उसे यदि हम कोई शास्त्रीय नाम देना चाहें तो निश्चित संज्ञा दे सकते हैं।

☐ भाषा का रंगमंच
☐ अस्ताव, थीसिस, प्रबन्ध का नाट्य
☐ कथात्मक रंगविधान का जगत

भाषा का अत्यधिक प्रयोग पारसी थिएटर और प्रसाद' दोनों में हुआ है। पारसी थिएटर में इसके अति प्रयोग के पीछे दो कारण थे। वहाँ अभि नेता एक ही बात को, भावना को दो तरह से दूहरे ढंग से कहता था—पहले वह दर्शक को बताता था, फिर वही स्वयं कहकर (मुख्यतः बहरे तबील और अन्य छंदों में) उसी का अभिनय करता था, दूसरे उसमे 'प्रचारक' का अत्यधिक हस्तक्षेप था, इसलिये भाषा का अराजक प्रयोग हुआ था। बुनियादी ढंग से इस भाषा प्रयोग में अभिनेता इसके भीतर विद्यमान और साथ ही इसमें दर्शक भी शामिल था। अतएव भाषा का यह अतिप्रयो रंगमंच में घुलमिल गया था। इसी के अनुरूप उसमें अतिरंजनाप्रधा

चमत्कारमूलक घटनाएँ और कार्यव्यापार थे, इसलिये भी भाषा प्रयोग की वह अराजकता उसका अभिन्न अंग बन जाती थी। 'प्रसाद' में वही अभिनेता और दर्शकबोध पारसी थिएटर की तुलना में भाषा के भीतर से कुछ दूर छूट गया। इससे जो अन्तर पैदा हुआ उसमें दो नये तत्व आ घुसे :

- ☐ साहित्यकता
- ☐ व्याख्याकता

और प्रचारक के स्थान पर कवि का हस्तक्षेप आ गया।

प्रसाद के बाद मिश्र, सेठ, प्रेमी के भाषा प्रयोग में वही अभिनेता और दर्शक अपेक्षाकृत गायब हो गए। इसके स्थान पर क्रमशः आ गए परस्पर वाद-विवाद करने वाले स्त्री-पुरुष (चरित्र नहीं) और 'पाठक'। और ये प्रचारक, कवि के स्थान पर तार्किक 'वकील' और 'बुद्धिवादी' लेखक हो गये। इस सृजन भूमिका पर, जब इन नाटककारों ने 'इतिहास', 'पुराण' की कथा-वस्तु और चरित्र लिये तो अपनी संस्कृति से स्वयं को जोड़ने के लिए 'इब्सन' 'प्रसाद', 'डी० एल० राय', 'पारसी थिएटर' सबको बुद्धि द्वारा बेधते हुए सीधे ये भरतमुनि तक पहुँचे और अपने नाट्य का सम्बन्ध अपने पूर्वजों से जोड़ने लगे।

'असत्य को सत्य करने की यह विचित्र पद्धति शेक्सपियर के नाटकों तक अपने वेग से चलती रही। इब्सन ने शेक्सीपियर के विरुद्ध प्रतिक्रिया की, पर हमारे दुर्भाग्य से द्विजेन्द्र लाल राय ने आँख मूंदकर शेक्सपियर का अनुकरण किया और वह अनुकरण देश की सभी भाषाओं पर छा गया। अब समय आया है जब इस देश के साहित्यकार अपने जातीय सिद्धान्तों को समझें और अब से भी अपना सम्बन्ध अपने पूर्वजों से जोड़ें।'*

इस सम्बन्ध जोड़ में भी इन्होंने संस्कृत रंगमंच के कवित्व और कल्पना को ग्रहण नहीं किया और इसके लिये जो तर्क दिया, वह इब्सन के प्रभाव में आकर दिया।'

* 'दशाश्वमेध', मिश्रजी, भूमिका, पृष्ठ १३।

[1]"'काव्येषु नाटकं रम्यम्'"भरत के इस कथन से यह निश्चित हो जाता है कि लोकवृत्ति का चित्रण, उत्तम, मध्यम और अधम मनुष्यों के व्यापार क्रियाकलाप का निदर्शन नाटक या साहित्य का कोई भी अंग हो सकता है। लोकवृत्ति प्रकृति की बनाई है। को ईभी कवि कल्पना से उसका निर्माण नहीं करता।"

जाहिर है, जहाँ सारा रंगमंच भाषा का है वहाँ 'नाट्य' की कवि कल्पना से क्या मतलब ? वहाँ मतलब होगा ऐसी अतिनाटकीय स्थितियों से जहाँ जमकर—

[2]आर्य अनार्य, ब्राह्मण शूद्र, धर्म और संस्कृति, दर्शन और कर्म, वेदांत और आनन्द, 'श्रेय और प्रेय', '(अशोक', 'गरूड़ध्वज', 'नारद की वीणा,' 'वत्सराज', 'दशाश्वमेध') तथा व्यक्ति और समाज, नैतिकता बनाम अनैतिकता, राक्षस बनाम देवता, काम और सेक्स, आचार बनाम दुराचार, सामाजिक भ्रष्टाचार और व्यक्ति, हिंसा और सद्वृत्ति ('संन्यासी', 'राक्षस का मन्दिर', 'मुक्ति का रहस्य', 'सिंदूर की होली') पर वाद और विवाद और बहस हो सके। जहाँ भाषा के तीखे बाणों से असत्य का पर्दाफाश किया जाये।

[3]जहाँ हिन्दू धर्म की उदारता बनाम मजहबी तआस्सुब, हिन्दू-मुसलमान की एकता, नमाज और इंसानियत, छूत-अछूत साँप्रदायिकता और राष्ट्रीयता, मराठे, राजपूत और हिन्दुत्व बनाम मुगल संस्कृति ('रक्षा बन्धन', 'शिवा-साधना', 'प्रतिशोध', 'स्वप्न भंग' 'आहुति') और

[4]'राम बनाम गाँधी, कर्तव्य और अधिकार, ज्ञान और शांति; बुद्ध धर्म बनाम ईसाई धर्म, संस्कृति और वर्गभेद, पाश्चात्य बनाम भारतीय जीवनदृष्टि ('राम से गाँधी', 'कर्ण', 'हर्ष', 'शेरशाह', 'शशिगुप्त') तथा समाज और शोषण अछूतोद्धार, पाप-पुण्य, हिंसा-अहिंसा, सेवा और महत्व, व्यक्ति और दुःख ('दलित-कुसुम', 'त्याग का ग्रहण', 'हिंसा या अहिंसा', 'बड़ा पापी कौन'; 'महत्व किसे' ? 'दुःख क्यों') आदि ऐसे अनगिनत नाटकों से

1. 'दशाश्वमेध', मिश्रजी भूमिका पृष्ठ १६। 2. लक्ष्मीनारायण मिश्र।
3. हरिकृष्ण प्रेमी। 4. सेठ गोविन्ददास।

पाठकों, मुख्यत: विद्यार्थियों को इन विषयों पर समुचित प्रकाश मिले। उन्हें 'ज्ञान' भी हो और प्रकाश भी प्राप्त हो।

*मैंने नाटकों की रचना निरुद्देश्य नहीं की है।....प्राचीन इतिहास हमारी शक्ति और दुर्बलता का दर्पण है। मैंने बार-बार यह दर्पण अपने देशवासियों के सम्मुख रखा है, ताकि हम अपने देश के अतीत को देखकर व्यक्तिगत, सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन से उन दुर्बलताओं को दूर करें, जिन्होंने हमें पराधीनता के पाश में बाँधा।'

मानवीय विषयों और समस्याओं पर वाद-विवाद करने का तत्व इब्सन में खूब था, पर वहाँ ('डाल्स हाऊस', 'पोस्ट' आदि) हर नाटक में विषय एक ही था और समस्या भी एक ही ली जाती थी और नाटक का सारा यथार्थवादी ढाँचा, अपनी तमाम 'बातों', 'वाद-विवादों', 'तर्कों' के बावजूद रंगमंचीय 'कार्य' से उद्भूत होता था। यहाँ इन नाटकों में प्रत्येक नाटक में कई विषय, कई समस्याएँ होती हैं, और प्रत्यक्षत: इसका सारा रंगमंचीय विधान न किसी एक निश्चित कार्य से उद्भूत होता है, न किसी नाटकीय चरम परिणति से इनका कोई सम्बन्ध जुड़ता है।

मानवीय भावनाओं, क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं पर व्याख्या, टीका-टिप्पणी चरित्रों के मनोवेग को सूचित पारिभाषित करने की परम्परा संस्कृत नाट्य से लेकर शेक्सपियर, पारसी थिएटर और 'प्रसाद' तक हमें मिलती है। पर वहाँ वह विशिष्ट तत्व उसके रंगमंच प्रकार और अभिनय शैली के भीतर से आता है। वहाँ सारे रंगमंच की प्रकृति ही ऐसी है!

पर यहाँ रंगमंच की प्रकृति और उसकी रंग-शैली परस्पर विरोधी शैलियों के तालमेल तथा गडमड के कारण और मूलत: इसमें जीवित रंगमंच बोध की विहीनता के कारण 'पाठ्य' तत्व प्रमुख हुआ। और उसमें भी संस्कृति, इतिहास जीवनादर्श जैसे भारी-भरकम विषयों का भार पड़ा। फलत: यहाँ सब कुछ मूल रूप से 'कहा गया', 'लिखा गया', 'बताया गया'; 'विचार विनिमय हुआ'—जिया' और 'रचा' नहीं गया।

---

* 'कीर्ति स्तम्भ' हरिकृष्ण प्रेमी, भूमिका, पृष्ठ ७।

पारसी थिएटर या पश्चिमी ड्रामा के दबाव और प्रतिक्रिया स्वरूप और अपनी रंगआस्था के फलस्वरूप 'भारतेन्दु' और प्रसाद' में रंगमंच और अभिनय शैली की जो तलाश है, प्रयत्न है, वह यहाँ सर्वथा लुप्त है। यहाँ सारा इतिहास संस्कृति, जीवनादर्श, राष्ट्रीयता, व्यक्ति समाज के विचार स्तर पर है।

इन नाटककारों के नाट्यचरित्र कर्म करने की अपेक्षा बोलते ज्यादा हैं। पारसी थिएटर में चरित्र बोलते भी थे, और यही कार्य भी करते थे ठीक जैसे शेक्सपियर और संस्कृत रंगमंच में चरित्र करते थे। वहाँ वस्तुत: 'कार्य, कथन' और 'कार्य संपादन' दो धरातलों पर, उस रंगमंच प्रकृति के अनुकूल प्रस्तुत होता था। 'कथन', संभाषण,' कल्पना जगाने, सूचना देने के उद्देश्य से और वही कार्य संपादन 'दृश्यत्व' के लिए होता था। अर्थात् एक ही बोध को शब्द से लेकर कार्य तक गतिमान करना, खचित देखना, ताकि उसमें मानवीय गति, कार्य बोध पैदा हो।

पर यहाँ 'बोलना' प्राय: वाद-विवाद, मानसिक संघर्षों के सूचनार्थ और ज्ञान-प्रदर्शन के स्तर पर होता है। इसलिए यहाँ नाट्य संप्रेषणीयता अपेक्षाकृत 'पाठ्य' के एक ही स्तर पर होती है। यहाँ अनेक दृश्यों के अभिनय बल्कि कुछ संपूर्ण नाटकों के अभिनय केवल बैठकर ही, बिना उठे, घूमे ही किया जा सकता है। इनका जैसे विश्वास था कि नाटक रेडियो माध्यम जैसे बोलकर, संवादों द्वारा ही प्रस्तुत हो सकता है। जैसे रंगमंच नहीं, भाषा रंगमंच।

यहाँ चरित्र—ऐतिहासिक, पौराणिक, और सामाजिक सभी प्रकार के नाटकों में अपने संघर्षों को अनुतप्त भाषा, दग्ध वाक्यांशों, आश्चर्यजनक संभाषणों, तीव्र वाद-विवादों द्वारा भी प्रकट करते हैं। जैसे प्राय: चरित्र पाठकरूपी न्यायाधीश और जूरी (दर्शक) से सामने विचारों के विविध कठघरों में खड़े हो वकील की तरह परस्पर बहस कर रहे हों और अपने विश्वासों, स्थापनाओं के लिए नजीरें, गवाहियाँ, उक्तियाँ उद्धरण आदि पेश कर रहे हों। इसी का एक फल यह भी है कि इन सभी नाटकों में एक-से-एक

सूक्तियों, आप्तवाक्य, सूत्रवचन और महावाक्य भरे पड़े हैं। इसे निश्चिय ही 'बुद्धि' और 'भावना' प्रयोग का फल ही कहा जा सकता है।

भाषा रंगमंच के कारण इन नाटकों में विषय 'प्रस्ताव थीसिस' प्रबन्ध की भूमि खूब स्पष्ट होकर सामने आयी है।

'प्रसाद' जहाँ पारसी थिएटर की प्रतिक्रिया और अपनी आस्थावश भारत के इतिहास की वास्तविकता पर बल दे रहे थे, और इससे उस पूरे काल की सांस्कृतिक स्थिति नाटक में झलक आती थी—ठीक इससे आगे अब नाटक ऐतिहासिक पौराणिक न होकर विशुद्ध 'सांस्कृतिक' होने लगे, अपने कथ्य और उद्देश्य इन दोनों धरातलों से।

हर नाटक एक पूर्व निश्चित, निर्धारित प्रस्ताव, थीसिस या प्रबन्ध मूल्य पर आधारित हुआ।

....धर्म के कल्याण के लिये कभी-कभी ऐसे कार्य करने पड़ते हैं जो देखने में अधर्म प्रतीत होते हैं।' ('अशोक'—मिश्रजी)

'नारद' (भारतीय सस्कृति की) आत्मा हैं। आप बुद्धि और नर शरीर हैं। ('नारद की वीणा'—मिश्रजी)

'राक्षस का मन्दिर' लिखने के बाद मुझे यह नाटक 'मुक्ति का रहस्य' लिखना अनिवार्य हो उठा। कुछ तो इसलिए कि उस नाटक में जीवन के जिस पहलू पर मैंने प्रकाश फेंका था—सदाचार और परंपरा था।

(भूमिका, 'मुक्ति रहस्य'—मिश्रजी)

हमारे भारतीय साहित्य में हिन्दुओं और मुसलमानों को एक-दूसरे से दूर करने वाली पुस्तकें तो बहुत बढ़ रही हैं। उन्हें मिलाने का प्रयत्न बहुत थोड़े-से साहित्कार कर रहे हैं। इसी लक्ष्य को सामने रखकर ऐतिहासिक नाटक ('रक्षा बन्धन', 'शिवासाधना, 'प्रतिबोध', 'स्वप्न भंग', 'आहुति आदि) लिखे गए। (भूमिका 'शिवासाधना'—हरिकृष्ण प्रेमी)

'एक आदमी एक से ज्यादा औरतों से और औरत एक से ज्यादा आदमियों से एक ही वक्त में प्रेम नहीं कर सकती।'

('दलित कुसुम'—सेठजी)

'प्रेम का अर्थ यदि मैंने कुछ समझा है तो वह, देव, देवेश देना है, लेना नहीं।' (न्याय या ग्रहण'—सेठजी)

'यदि वर्ण और वंश का महत्व है, तो वह तो भूतकाल को महत्व देना हुआ। अर्जुन को यदि अपने अतीत काल का गर्व है, तो मुझे वर्तमान का एवं भविष्य का।' ('कर्ण'—सेठजी)

वस्तुतः ये सारे नाटककार मानववादी थे। राष्ट्रीय संग्राम और पुनरुत्थान की भावना से बहुत नजदीक से जुड़े थे। अतएव इनमें हर बिन्दु पर आदर्श और यथार्थ, परम्परा और विद्रोह, पुराना और नया के बीच इनके निश्चित विश्वास, भावनाएँ तथा विचार थे। उन्हीं को ये लोग नाटक में विषय-वस्तु बनाते थे। उसी को अनेक तर्कों और उपायों से सिद्ध करते और खंडित-मंडित कर अपने एक पूर्वनिश्चित हल पर पहुँचते थे। यही कारण है कि इन सभी नाटककारों की नाट्यरचनाएँ पठन-पाठन, ज्ञान-बुद्धि और तर्कों पर खड़ी हैं। अनुभूति और व्यंजना पर नहीं। 'भाषा-प्रयोग' की प्रकृति' से स्पष्ट है कि ये सभी अपने एक निश्चित विचार, स्थापना, प्रबन्धबोध के चारों ओर भाषासंवाद का मकड़ी जाल बुनते रहते हैं। इस बनावट में सर्वत्र वही बुद्धि, भावना और तर्क के फन्दे मिलेंगे।'

तभी यहाँ हर नाटक का आरम्भ एक विचार, एक प्रस्ताव, एक समस्या का 'आरम्भ' है और बीच का सारा भाग उस समस्या पर विचार-विनिमय के घात-प्रतिघात का मध्यभाग है और अन्त उस विचार, प्रस्ताव और उस समस्या की समाप्ति, हल या उपसंहार का है। यहाँ नाटक की समस्या 'इब्सन', 'शेक्सपियर', 'प्रसाद' की तरह अपने पूर्व पर नहीं टिकी होती, न वह भविष्य के लिए छोड़ ही दी जाती है, वरन् प्रस्ताव, प्रबन्धबोध के अनुरूप हर नाटक के साथ समस्या शुरू होती है और उसके अन्त में वह समस्या समाप्त हो जाती है।' मिश्रजी और प्रेमी इसमें अत्यन्त कुशल हैं। सेठजी आदि और अन्त के बारे में उतने निश्चित और स्पष्ट नहीं हैं, इसके लिए इन्होंने अपने नाटकों में 'उपसंहार' का सहारा लिया है; ताकि एक शिक्षक, नेता, सुधारक, बुद्धिजीवी के चिन्तन का प्रभाव पैदा हो, और समस्या कहीं से भी शेष न रह जाए।

मिश्रजी में यदि वह कहीं शेष रहने लगती है तो वह 'दशाश्वमेध' नाटक में वीरसेन द्वारा विंध्याचल में विंध्यवासिनी का मन्दिर बनवा देते हैं, राक्षस का मन्दिर' में मुनीश्वर (राक्षस) द्वारा मातृमन्दिर—विधवा आश्रम खुलवा देते हैं।

इन नाट्य तथ्यों का अंततोगत्वा प्रभाव इनके नाट्य विधान पर पड़ा है। इस प्रसंग में सर्वाधिक उल्लेखनीय तत्व वह है कि जहाँ नाटक का सारा विधान बुनियादी तौर पर नाटक की अपेक्षा कथात्मक रंगविधान के समीप आ गया है।

कथा और चरित्रविधान में यह इतिवृत्तात्मकता—आदि, मध्य और अन्त बल्कि उपसंहार तक फैली हुई है, और नाटकीय गति में यह घटनात्मक और भावुकतापूर्ण कार्यों की परिसमाप्ति में।

इस तथ्य की पहचान इन नाटकों के अंकविधान और दृश्ययोजना से होती है चाहे सांस्कृतिक ऐतिहासिक नाटक हो, चाहे सामाजिक, अंक अथवा दृश्यविधान बिल्कुल कथासाहित्य सा (पाठ्य) होता है। शुद्ध पाठक को ध्यान में रख कर दृश्य यहाँ लिखे गये हैं, वर्णित एवं कथित है। रंगमंच को ध्यान में रख कर नहीं।

जगदीशचन्द्र माथुर के 'कोणार्क' नाटक में आधुनिक नाटक और रंगमंच की परम्परा फिर से उदित होती है। आधुनिक बोध में वर्तमान और भूत (इतिहास) के बीच जो व्यवधान उपस्थित होता है उसे कलात्मक सेतु द्वारा जोड़ना तथा अतीत के परिप्रेक्ष्य में वर्तमान को अभिव्यक्ति देना एक महत्त्वपूर्ण लक्षण है। दूसरी ओर कोणार्क के द्वारा नाटक के स्तर को आंतरिक अनुभूति और काव्य-स्तर में जोड़ देना, रंगमंच पक्ष के तत्वों का समन्वय कर एक नया रंग प्रयोग करना—ये सारे लक्षण तथा विशेषताएँ 'कोणार्क' की हैं! 'कोणार्क' की समूची संरचना में मन्दिर के गिरने का कार्य है, उस पर रेडियो-शिल्प का अमिट प्रभाव है। रेडियो के इस तत्त्व के नाटक के अन्तिम भाग को रंगमंच के स्तर से निर्बल बनाया है, यह सत्य स्पष्ट है!

स्वतन्त्रता के बाद आधुनिक हिन्दी-नाटक और रंगमंच का महत्त्वपूर्ण चरण प्रारम्भ होता है। परम्परा, प्रयोग, प्राचीन और नवीन, पूर्व और

पश्चिम इन सब रंग-दृष्टियों का सम्यक् अध्ययन प्रारम्भ हुआ। इसमें भी आगे व्यावहारिक नाट्य प्रशिक्षण, रंग-अध्ययन और प्रस्तुतीकरण के क्षेत्र में व्यावहारिक कार्य शुरू हुए। हिन्दी-क्षेत्र के प्रमुख नगरों में संस्कृत, अंग्रेजी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के नाटक खेले जाने लगे तथा नाटककार पहली बार रंगमंच में व्यावहारिक क्षेत्र में आया तथा अभिनेता रंग-शिल्पी और दर्शक के बीच बैठकर कार्यरत हुआ। इलाहाबाद में १९५५ ई० में नाट्य केन्द्र 'स्कूल आफ ड्रामेटिक आर्ट' की स्थापना इसी प्रसंग का एक महत्त्वपूर्ण उदाहरण है। दूसरी ओर दिल्ली में 'नेशनल स्कूल आफ ड्रामा' की स्थापना तथा प्रमुख नगरों में 'नाटक अकादमीज़' की स्थापना, यथा—'अनामिका' (कलकत्ता), 'दर्पन' (कानपुर), 'दिल्ली नाट्य संघ' (दिल्ली), 'थिएटर यूनिट' (बम्बई), से हिन्दी नाटक और रंगमंच के उल्लेखनीय केन्द्र स्थापित हुए। इस व्यापक परिवेश और रंग-चेतना के भीतर से कई महत्त्वपूर्ण शक्तिशाली आधुनिक नाटक हिन्दी में प्रकट हुए, जैसे—'मादा कैक्टस', 'अन्धायुग', 'आषाढ़ का एक दिन', 'रात रानी', 'दर्पन', 'सूर्यमुख', 'कर्फ्यू', 'व्यक्तिगत'—इन सभी नाट्य कृतियों अभूतपूर्व शक्ति यह है कि इनमें रंगमंच पक्ष और साहित्य पक्ष, दोनों अपने श्रेष्ठ बिन्दुओं पर प्रतिष्ठित है और इन सब में व्याप्त-जीवन-बोध और रंग-दृष्टि अधुनिकता के अनेक संदर्भों में सार्थक है।

दर्पन नाटक के बारे में

यह जीवन किसका है ? इसका स्वामी कौन है ? दर्पन का मूल विषय यही है। बल्कि मनुष्य के इसी बुनियादी प्रश्न को यह आधुनिक नाटक सहज ही दर्पन दिखाता है। इस प्रश्न के सामने, इस नाटक का जीवन रख दिया गया—यह यथार्थ जीवन अनुभव—जो पूर्वी, हरिपदम, सुजान और पिताजी जैसे चरित्रों के द्वारा किया गया है। इसी अनुभव से, जीवन और उस प्रश्न के टकराहट से हमें अन्ततः एक बड़ा अनुभव मिलता है कि मनुष्य की नियति केवल मनुष्य के ही हाथ में है। वही उसका नियंता है वही उसको भोगने वाला है। अर्थात् अपने जीवन का स्वामी मनुष्य ही है। और जो इसे बन्दी बनाना चाहता है, इसमें जो गतिरोध डालता है, धार्मिक, नैतिक, सामाजिक अन्धविश्वासों, अन्धमूल्यों द्वारा वह निश्चय ही मनुष्य और जीवन का शत्रु है।

दर्पन नाटक में यह जीवन-गति और गतिरोध, यह विश्वास और अन्ध-विश्वास, यह जीवन आस्था और अनास्था कई स्तरों और कई प्रसंगों से दिखाया गया है : हरिपदम और पिताजी की जीवन-दृष्टियों द्वारा, पिताजी और सुजान के संघर्ष से, पूर्वी और दर्पन के संघर्षों से, पूर्वी और सुजान, दंडी असाध्य रोगी के सम्बन्धों द्वारा और अन्त में पूर्वी, दर्पन और हरिपदम के जीवन मूल्यों के संदर्भ से।

पिताजी; पूर्वी और हरिपदम के उस सहज मानवीय सम्बन्धों की प्रतिक्रिया में कहते हैं—'जिस लड़की के कुल शील का पता नहीं, उससे तुम अपना ब्याह करना चाहते हो ? पागल हो गए हो ?' हरिपदम कहता है—'पिताजी, मैं इस तरह नहीं सोचा करता। जीवन मेरे लिए एक आस्था है; वह हर क्षण मुझे कृतज्ञ करता है।'

पिताजी : तो

हरिपदम : कुछ नहीं।

पिताजी : तुम्हारी आस्था मेरे काम आयेगी क्या ?

उसी क्षण भीतर कमरे में सुजान को मिरगी (फिट) आती है। पहले वह अजीब ढंग से हंसता है फिर उसकी लंबी चीख वातावरण में खिंच जाती है।

यह सच है, मनुष्य का विश्वास, उसकी आस्था, उसके भीतर के संस्कारों, उसक विवेक और उसकी दृष्टि से बनता है। उसके आस-पास के परिवेश और वातावरण से बनता है। एक की आस्था दूसरे के काम नहीं आती—यही है करुणा हमारे समाज की, व्यक्तियों की, जहाँ उसके जीवन के प्रति निर्णय कोई और ही ले लेता है। पूर्वी जो वास्तव में दर्पन है, उसे जन्मते ही बौद्ध विहार को दान कर दिया जाता है। वह स्त्री से भिक्षुणी बना दी जाती है और वह अपना सहज जीवन जीने के लिये जीवनधारा से काट दी जाती है, अलग फेंक दी जाती है।

बुद्ध ने कभी स्वयं कहा था—'हर सत्य परिवर्तनशील है'—पर मनुष्य इस सच्चाई को कहाँ मानता है—वह तो अपने सीमित सत्य को ही परम सत्य मानकर बैठ जाता है और इस तरह वह अपने ही जीवन की नहीं, औरों के भी जीवन की हत्या कर देता है—यही है दर्पन की पूर्वी की मानवीय करुणा।

पूर्वी, जो हरिपदम को जीवन में बाँधकर यह अनुभव करती है कि जैसे उसके चारों ओर कोई दर्पन खिचा हो और वह उसके मध्य चुपचाप बैठी है, वह कल्पना करने लगती है कि वह दर्पन उसके लिये पारदर्शी हो गया है और वह उसके परे एक नीलाकाश देखने लगती है—जिसमें सितारों की एक नाव चल रही है·····एक हाहाकार—जैसे असंख्य यक्ष शिशुओं को कोई मार रहा हो। यह हाहाकार दरअसल उसी जीवन की मृत्यु का ही हाहाकार है—जहाँ वह दर्पन सम्पूर्ण स्त्री बनकर समाज को बहुत कुछ दे सकती थी।

पर दर्पन ने फिर भी दिया है—दुःखी मानवता को अपनी असीम ममता,

कर्म और करुणा, पर भिक्षुणी बनकर। वह स्त्री बनी रहकर क्या यह सब नहीं दे सकती थी ? यही है प्रश्न दर्पन का—जिसका उत्तरदायी हमारा समाज है। पूर्वी अपने दर्पन से जितनी दूर-दूर भागी है, जितना ही उसने उस दर्पन को तोड़ना चाहा है, उतना ही वह दर्पन, वह सच्चाई उसे घेरती चली गयी है। पूर्वी अन्त में कहती है, 'पर मैं हूँ''''इसे मैं तोड़ नहीं सकी। इसे मैं जला भी न सकी। और अब मुझे जाना है।'

क्यों ?

'प्यार का आधार छल नहीं हो सकता। और यह छल मैंने किया था''' मैंने''''पूर्वी ने नहीं।'

इस तरह दर्पन पारदर्शी हो जाता है।

'दर्पन' नाटक इस तरह एक शुद्ध आधुनिक नाटक है। इसका सामाजिक यथार्थ, मनोवैज्ञानिक आधार और मनुष्य की व्यक्तिगत स्वतंत्रता का संदर्भ इसके वस्तु-विषय का महत्त्वपूर्ण सत्य है।

इसका कथानक बड़ा सरल और सहज है, पर जिस ढंग से इस नाटक का रूपायित हुआ है, वह उतना ही सहज नाटकीय है।

हरिपदम काशी विश्वविद्यालय का नवयुवक अध्यापक है। ट्रेन की यात्रा में यह सहसा भयंकर ढंग से बीमार पड़ जाता है। एक छोटे-से स्टेशन पर वह गाड़ी से उतार लिया जाता है। जीवन और मृत्यु के उस भयंकर संघर्ष में हरिपदम पाता है कि एक अपरिचित अनजान युवती उसकी जीवन रक्षा में जी-जान से लड़ रही है। उसका नाम है पूर्वी।

पूर्वी के साथ हरिपदम अपने घर आता है—वाराणसी। उसके घर में उसके पिताजी, उसका बीमार छोटा भाई सुजान, बहन ममता, नौकर मत्ती। घर में आकर पूर्वी पिताजी को छोड़कर अन्य सभी का प्रियपात्र बन जाती है। कहाँ वह अकेली ट्रेन में यात्रा करती हुई न जाने कहाँ जा रही थी, कहाँ उसकी वह ममतामयी भेंट हरिपदम से हो जाती है और कहाँ वह हरिपदम को उसके घर तक छोड़ने आयी थी, पर उस घर से इस तरह चले जाना इतना आसान न हुआ।

हरिपदम पूर्वी से शादी करना चाहता है और इसकी सूचना पिताजी को जब अखबार से मिलती है तो वह आगबबूला हो जाते हैं। उन्हें यह शादी कतई पसंद नहीं, किसी अपरिचित लड़की से, जिसके न कुलशील का पता, न किसी ठौर-ठिकाने का, इस तरह शादी करना, पिताजी पूर्णतः अनर्थ समझते हैं।

पर हरिपदम कृत-संकल्प है उसी पूर्वी से ही शादी करने को। क्योंकि उसने अपने जीवन में पूर्वी के जिस महान् ममतामय, करुणामय चरित्र की अनुभूति की यह इतनी ज्यादा है कि उसके सामने उसका और कोई परिचय प्राप्त करना बाकी नहीं रह गया है।

और इसी बिंदु से नाटक की कथा, इसके नाटकीय कार्य का गंभीर अर्थ-पूर्ण बिन्दु शुरू होता है। असली परिचय का प्रश्न। अपनी अस्मिता का सवाल।

बार-बार, पूर्वी एक नाम लेती रहती है 'दर्पन' का। उसे वह अपनी बहन बताती है, जो दार्जिलिंग में है, बौद्धमठ के अस्पताल में डाक्टर है। वह भिक्षुणी है। दर्पन की पूरी कथा, उसके चरित्र के तमाम पक्ष वह बातों-बातों में इधर-उधर से टुकड़े-टुकड़ों में बताती रहती है। हम पूर्वी के द्वारा उस अप्रत्यक्ष दर्पन के बारे में ज्यादा परिचित होते चलते हैं। पर पूर्वी का भी परिचय हमें मिलता रहता है। यह भी लालायित है हरिपदम से शादी करने को। उसमें घर-गृहस्थी के जीवन को जीने की अगाध, असीम कामना है, लालसा है। पर उसके व्यवहारों से यह भी पता चलता है कि पूर्वी कुछ और है। कोई सच्चाई उसका पीछा कर रही है। वह कहीं से भागी है और जिससे भागी है, वह अनेक रूपों में उसके आगे-पीछे है। वही उसका भूत है—अतीत। वह भूत तमाम चिन्हों को, स्मृतियों और दस्तावेजों को तोड़-फोड़ देना चाहती है, हमेशा के लिये खत्म कर देना चाहती है—वे सच्चाइयाँ, वे साक्ष्य कभी मिटते नहीं। ठीक शादी से कुछ ही समय पहले पूर्वी को अनुभव हो जाता है कि वह अपने आपको अब और छिपा सकने में पूर्णतः असमर्थ है। फिर वह स्वयं अपने रहस्य का पर्दाफाश करती है। दुल्हन के भेष को बदलकर वह भिक्षुणी के भेष में आती है और स्वयं रहस्योद्घाटन करती

है कि उसने छल किया है, उसने झूठ बोला है। वह पूर्वी नहीं। वही 'दर्पन' है। वह दर्पन की सच्चाइयों से, धर्म के अंधविश्वासों से भागकर आयी थी, जीवन में। जीवन जीने, एक आम इंसान की तरह। पर वह अब सम्भव नहीं। जीवन जीने की कुछ शर्तें भी होती हैं, यही प्रतीति लेकर वह चली जाती है।

इस नाटक में जितने भी चरित्र आये हैं, सब हमारे समाज, जीवन के जीते-जागते चरित्र हैं। सब में अच्छाइयाँ-बुराइयाँ, गुण-दोष हैं। पर एक बात ध्यान रखने की है—सारे चरित्र पूर्णतः चरित्र हैं—जिनका जो विश्वास है, प्रकृति और स्वभाव संस्कार है सब उसी को जीते हैं।

इसीलिए 'दर्पन' के सभी चरित्रों की संवाद-भाषाशैली उन्हीं के जीवन से है। सभी पात्र खुद जीते हैं इस नाटक में अपने जीवन को, तभी तो सभी चरित्र जिए हुए हैं।

जितना ही 'दर्पन' नाटक रंगमंच का नाटक है, उतना ही यह साहित्य का नाटक है। इसका पठन-पाठन जितना महत्त्वपूर्ण है उतना ही इसका रंगमंच भी अर्थवान है। इसका रंगमंच इसमें उसी तरह परिव्याप्त है, जैसे जीवित शरीर में आत्मा।

नाटककार लक्ष्मीनारायण लाल और उनकी कृतियों का परिचय

लक्ष्मीनारायण लाल आधुनिक हिन्दी साहित्य के परम महत्त्वपूर्णनाटककार, कथाकार और साहित्य के विभिन्न अंगों के मर्मज्ञ और कला जीवन चिन्तक हैं। इन्होंने मौलिक साहित्य सृजन के साथ-ही-साथ मौलिक जीवन चिन्तन में महत्त्वपूर्ण योग दिया है।

जयशंकर 'प्रसाद' के बाद मोहन राकेश और लक्ष्मीनारायण लाल ही दे दो नाटककार हुए हैं जिन्होंने सही और सम्पूर्ण अर्थों में हिन्दी नाट्य को आधुनिक बनाया। विशेषकर लाल का नाम इसलिए सर्वाधिक उल्लेखनीय है कि इन्होंने अपने नाटकों द्वारा एक ओर भारतीय रंगमंच की जीवंत परम्पराओं, प्रेरणाओं को अपने नाट्य लेखन में नये संदर्भ दिये और दूसरी ओर इन्होंने पश्चिम के 'नाट्य' को, उसके रंगमंच की प्रकृति को गहराई से समझकर देखा है। इन्होंने भारतीय और पाश्चात्य नाट्य के समन्वय के विश्वास का खंडन किया है। इनका कहना है कि पूर्व और पश्चिम का अभी भी समन्वय नहीं हो सकता, विशेषकर कला और साहित्य सृजन के क्षेत्र में।

जीवन परिचय : लक्ष्मीनारायण लाल का जन्म चार मार्च उन्नीस सौ सत्ताइस में उत्तरप्रदेश के बस्ती जिले के एक गाँव—जलालपुर में हुआ। प्रारम्भिक शिक्षा गाँव के स्कूल में और हाई स्कूल, इन्टरमीडियट शिक्षा बस्ती शहर में प्राप्त की। प्रयाग विश्वविद्यालय से हिन्दी में (१९५०) एम० ए० और 'हिन्दी कहानियों की शिल्पविधि' पर सन् बावन में डाक्ट्रेट।

इसके बाद प्रयाग विश्वविद्यालय और दिल्ली विश्वविद्यालय के कालेजों में अध्यापक होकर विश्वविद्यालय की उच्चस्तरीय शिक्षा और अनुसंधान कार्य में महत्त्वपूर्ण योग दिया। इस बीच कुछ दिनों के लिए आकाशवाणी में ड्रामा प्रोड्यूसर। उन्नीस सौ चौसठ में विश्व नाटक सम्मेलन रूमानिया में, भारतवर्ष की ओर से अकेले नाटककार के रूप में प्रतिनिधित्व किया। नेशनल ग्रीक थियेटर, एथेन्स में आमंत्रित किये गये।

इलाहाबाद में नाट्य केन्द्र स्कूल आफ 'ड्रामेटिक आर्ट्स' की स्थापना और इनके द्वारा उसके संचालन और निर्देशन ने हिन्दी क्षेत्र में नाटक और रंगमंच के प्रति लोगों में गहरी रुचि पैदा की। अनेक अभिनेता, निर्देशक 'नाट्यकेन्द्र इलाहाबाद' से रंग संस्कार और प्रशिक्षण लेकर हिन्दी रंगमंच क्षेत्र में कार्यरत हुए।

दिल्ली में 'संवाद' रंगमंच संस्था निर्माण कर और दिल्ली विश्वविद्यालय में एम० ए० हिन्दी के पाठ्यक्रम में नाट्यक्रम और रंगमंच का प्रशिक्षण और अध्यापन कर डा० लाल ने राजधानी में गंभीर कार्य किया।

कृतियाँ

'मादा कैक्टस' नाट्यकृति के साथ लाल ने हिन्दी नाट्यक्षेत्र में पदार्पण किया। इसके पूर्व कुछ एकांकी लिखकर अपने विद्यार्थी जीवन से ही इन्होंने लोगों का ध्यान आकृष्ट किया—विशेषकर डाक्टर रामकुमार वर्मा, वृन्दावन लाल वर्मा, लक्ष्मीनारायण मिश्र और उपेन्द्रनाथ 'अश्क' का ध्यान। विद्यार्थी जीवन में लिखे हुए वे एकांकी नाटक क्रमशः 'ताजमहल के आँसू' और 'पर्वत के पीछे' एकांकी संग्रहों में संग्रहीत हैं।

'नाट्यकेन्द्र इलाहाबाद' के जीवन काल में 'सुन्दररस', 'रातरानी',

'तोता-मैना', 'दर्पण' और 'रक्त कमल' नाटकों की रचना की। ये नाटक पूरे हिन्दी क्षेत्र में प्रस्तुत होने लगे। कलकत्ता, बम्बई और दिल्ली की प्रसिद्ध नाट्य संस्थाओं जैसे अनामिका (कलकत्ता) थियेटर युनिट (बम्बई) आदि ने इन नाटकों को प्रस्तुत किया।

दिल्ली के जीवन काल में क्रमशः 'कालकी', 'मिस्टर अभिमन्यु', 'सूर्यमुख', 'कार्यं', 'अबदुल्ला दीवाना', 'व्यक्तिगत' की रचना की। ये नाटक 'नेशनल स्कूल आफ ड्रामा', 'अभियान' और 'श्वाविन' जैसे प्रसिद्ध रंगदलों द्वारा खेले गये। इन नाटकों के अन्य भारतीय भाषाओं में अनुवाद हुए और इस तरह पठन-पाठन और प्रदर्शन इन सभी स्तरों पर लक्ष्मीनारायण लाल अखिल भारतीय स्तर के परम महत्त्वपूर्ण नाटककार के रूप में स्वीकृत स्थापित हुए।

मौलिक नाट्य रचना के साथ-ही-साथ रंगमंच प्रदर्शन, निर्देशन से गहरे रूप में सम्बन्ध रहने के कारण डा० लाल ने रंगमंच अनुसंधान क्षेत्र में तीन महत्त्वपूर्ण ग्रंथ दिये— रंगमंच और नाटक की भूमिकाएँ, 'पारसी हिन्दी रंगमंच', 'हिन्दी रंगमंच और नाटक'।

उन्नीस सौ सत्तर में दिल्ली विश्वविद्यालय की नौकरी छोड़, कुछ ही दिनों नेशनल बुक ट्रस्ट में सम्पादक, की नौकरी से त्यागपत्र देकर गत् वर्षों से डा० लाल स्वतंत्र लेखक हैं। नाटक के अलावा कथासाहित्य, आपकी औपन्यासिक कृतियों में 'मनवृन्दावन', 'प्रेम अपरिचित नहीं', 'हरा समन्दर गोपी चन्दर' बहुत प्रसिद्ध है।

दर्पन

चरित्र

पूर्वी
हरिपदम
मुजान
पिताजी
ममता
मन्ती
दंडी
एक आदमी

पहला अंक

पहला दृश्य

स्थान : वाराणसी

काल : उन्नीस सौ साठ ईसवी

[दृश्य : आधुनिक ढंग के बंगले का बरामदा। सामने एक दरवाजा जो घर के भीतर खुलता है। दायीं ओर बरामदे का घिराव। बायीं ओर बरामदे का खुला हुआ भाग, बाहर आने-जाने के लिए। बरामदे में बेंत की तीन कुर्सियां। बीच में टेबल, जिस पर पत्र-पत्रिकाएं और उस दिन का अखबार पड़ा है।

मार्च के दिन हैं। सुबह साढ़े आठ बजे का समय। पर्दा उठने पर मंच कुछ क्षणों तक के लिए खाली है। भीतर से पूर्वी का प्रवेश। अवस्था पच्चीस वर्ष। गौर वर्ण। मुखश्री पर शिशुवत् भाव। मंत्रमुग्ध करनेवाली सरल, पर अगाध आंखें, पर जैसे अपने से बिल्कुल बेखबर। सफेद साड़ी और ब्लाउज पहने है। देखने से लगता है, वह थकी हुई है।

भीतर से आकर वह सूने बरामदे में घूमती है। एक-आध बार सहसा रुककर अनायास खड़ी रह जाती है। फिर जैसे बेहद थककर वहीं कुर्सी पर बैठ जाती है। उस दिन का अखबार उठाती है। अखबार के पृष्ठ में सहसा कुछ बड़े ध्यान से पढ़ती है और उसके होठों पर एक निःशब्द हंसी बिछ जाती है। उसी समय भीतर से पिताजी का प्रवेश। कुरता-धोती पहने, अवस्था साठ वर्ष के लगभग। भरा-पूरा शरीर। सख्त चेहरा, भरी हुई मूंछें। आंखों

पर चश्मा। प्रवेश कर चुपचाप एक निगाह पूर्वी पर डालकर बाहर शून्य में देखने लगते हैं, तभी भीतर से एक कराहने की आवाज़ सुनाई देती है। पूर्वी बिजली की तरह उठती है और भीतर दौड़ती है।]

पिताजी : (जैसे रोकते हुए) सुनो, सुनो पूर्वी····पूर्वी!

[रुककर फिर जैसे ही कुर्सी पर बैठते हैं और अखबार हाथ में उठाते हैं, तभी बाहर से हरिपदम का प्रवेश। पैंट और बुश्शर्ट पहने हुए हैं। अवस्था तीस वर्ष से अधिक नहीं। आकर्षक व्यक्तित्व।]

हरिपदम : जी, आपने अभी पूर्वी को आवाज़ दी थी ?

[पिताजी गम्भीरता से हरिपदम को सिर्फ देखकर रह जाते हैं।]

हरिपदम : पिताजी, आपको कुछ कहना है पूर्वी से ?

पिताजी : पर क्या वह मेरी बात मानेगी ?

हरिपदम : क्यों नहीं ? ऐसी भी क्या बात है !

पिताजी : हूँ।····

[खामोशी खिंच जाती है। हरिपदम जैसे उस कष्टप्रद स्थिति से ऊबकर भागने को होता है।]

पिताजी : सुनो हरिपदम !

हरिपदम : जी !

पिताजी : क्या यह सच है कि कल तुमने यूनिवर्सिटी में दोस्तों के बीच पूर्वी के संग अपने 'इंगेजमैंट' की बात की है।

हरिपदम : इसमें बुरा क्या है पिताजी ?

पिताजी : बुरा क्या है ? (खड़े हो जाते हैं।) तुम्हें इसमें बुराई ही नज़र नहीं आती ? वाह !

हरिपदम : पिताजी, मैंने अपने इस ब्याह के बाबत बहुत सोच-विचार किया है, और—

पिताजी : और खुद फैसला कर लिया है। शायद तुम्हारे लिए अब मैं वह पिता नहीं, जिससे आज्ञा लिये बिना तुम इस घर

से बाहर कभी पैर नहीं रखते थे।

हरिपदम : मैंने पूर्वी से अपने ब्याह के लिए, आज दो महीने हुए, सबसे पहले आप ही से कहा था।

पिताजी : पर मैंने उसे तभी नामंजूर किया था।

हरिपदम : पर मैं तभी से आपकी अनुमति चाहता था।

पिताजी : पर मैं एक गलत चीज़ के लिए अपने बेटे को कभी अपनी अनुमति नहीं दे सकता।

हरिपदम : पिताजी, पूर्वी से मेरा ब्याह····यह गलत चीज़ कहाँ है ? कैसे है ?

पिताजी : जिस लड़की के कुल-शील का पता नहीं, उससे तुम अपना ब्याह करना चाहते हो ? पागल हो गए हो ?

हरिपदम : पिताजी····

पिताजी : हाँ, हाँ, पिताजी, मैं अपने ज़िन्दा रहते तुम्हें यह शादी नहीं करने दूँगा। कान खोलकर सुन लो इसे।

हरिपदम : आप संयम से क्यों नहीं बातें करते ? आप इस तरह से चीखते क्यों हैं ?

पिताजी : ओह ! मैं ये बात धीरे-धीरे करूँ, ताकि भीतर घर में बैठी हुई वह पूर्वी न सुनने पाए नहीं—मैं अपनी ये बातें एक ही साथ तुम दोनों को सुनाना चाहता हूँ। मैं कोई चोरी नहीं कर रहा हूँ। किसी को दगा नहीं दे रहा हूँ। मैं सिर्फ अपनी बात कर रहा हूँ। जिसके लिए मैंने अपना जीवन दिया है। (रुककर) तुम्हें पता है न, तुम्हारी माताजी का स्वर्गवास कब हुआ था ?

हरिपदम : पिताजी·····

पिताजी : जब तुम बी० ए० के पहले साल में पढ़ रहे थे। मैंने तुम्हें माँ और बाप दोनों बनकर पाला है। इस तरह कि जैसे कोई अपना स्वप्न पालता हो।

हरिपदम : जी, उसके लिए मैं आपका कृतज्ञ हूँ।

पिताजी : कृतज्ञ ? कैसा कृतज्ञ ! यूनिवर्सिटी में प्राचीन इतिहास और संस्कृति के तुम लेक्चरर हो, पर भाषा नहीं बोलनी आती तुम्हें ! कृतज्ञ होगे ? तुम मुझसे अलग हो क्या ?

[हरिपदम निरुत्तर भीतर जाने लगता है।]

पिताजी : सुनो ! भीतर पूर्वी से कहो कि अब वह आराम करे। रात-भर वह सुजान के लिए नर्स की तरह उसकी दवा-सेवा में जगी बैठी रही है।

हरिपदम : जी !

पिताजी : तुम्हें पता है न, सुजान के दायें अंग पर जब से फालिज गिरा है, उसके पहले से भी उस पर 'फिट्स' आते थे न !

हरिपदम : जी नहीं। फालिज के पहले उस पर कभी 'फिट' नहीं आया था।

पिताजी : कैसे नहीं आया था। कालिज की छोकरियों के पीछे रोमांटिक बनकर वह कविता करना और क्या था ?

हरिपदम : यह आपका दृष्टिकोण है ! यह आपकी भाषा है !

पिताजी : खैर; यह मेरा दृष्टिकोण तो है ही। पर मैं इस समय तुमसे यह कहना चाह रहा था कि सुजान को जैसी दशा इन दिनों चल रही है वैसी उसकी दशा कभी नहीं थी।

हरिपदम : इसका कारण क्या है ?

पिताजी : इस घर की अशान्ति।

हरिपदम : इस अशान्ति का कारण क्या है ?

पिताजी : वही पूर्वी !

हरिपदम : पिताजी, आपको ऐसा कहना शोभा नहीं देता।

पिताजी : मैं असभ्य हूँ। पर मैं तुमसे यह पूछता हूँ कि यह पूर्वी अपनी नौकरी पर क्यों नहीं जाती ?

हरिपदम : जाती क्यों नहीं ? दिन को वह अपने कार्यालय सारनाथ जाती है; इधर उसने सुजान की बीमारी के कारण चार दिनों की छुट्टी ले रखी थी।

[फिर वही खामोशी।]

पिताजी : लेकिन इधर जिस तरह के भयंकर फिट्स सुजान पर आ रहे हैं इससे तो बस घबरा गया हूँ—।

हरिपदम : यानी, आपके कहने का मतलब····।

पिताजी : हाँ, मेरे कहने का मतलब यही है कि जब से इस घर में यह लड़की पूर्वी आकर····।

हरिपदम : पिताजी····

पिताजी : अपनी उस पूर्वी से कहो कि अब वह किसी कमरे में जाकर चुपचाप सो जाए। नहीं तो कहीं वह बीमार पड़ी तो दूसरे दिन तुम बीमार पड़ोगे और तब तीसरे दिन मैं बीमार पड़ूँगा।

हरिपदम : हर चीज का निष्कर्ष आप इसी तरह निकाल बैठते हैं।

पिताजी : हाँ, हाँ, कह डालो न, कि एक रिटायर्ड ओवरसियर का दिलो-दिमाग और हो ही क्या सकता है !

हरिपदम : पिताजी, मैं इस तरह नहीं सोचा करता। जीवन मेरे लिए एक आस्था है; वह हर क्षण मुझे कृतज्ञ करता है।

पिताजी : तो !

हरिपदम : कुछ नहीं।

पिताजी : तुम्हारी आस्था मेरे काम आयेगी क्या ?

[उसी क्षण भीतर सुजान को मृगी (फिट) आती है। पहले वह

अजीब ढंग से हँसता है। फिर उसकी लम्बी चीख वातावरण में खिंच जाती है।]

[हरिपदम का तेज़ी से भीतर जाना]

पिताजी : फिर वही भयानक 'फिट' ! पता नहीं, मेरे इस घर में क्या होने वाला है।

[परेशानी में वहीं बरामदे में घूमने लगते हैं। भीतर से मत्ती का प्रवेश। पच्चीस वर्ष का नौकर।]

पिताजी : मत्ती, कहाँ भागा जा रहा है ?

मत्ती : जी भार्गव साहब की दुकान से दवा लेने जा रहा हूँ, पूर्वी बहन ने····।

पिताजी : पूर्वी बहन····!

मत्ती : हाँ साहेब, वही पूर्वी बहन जी बोलती हैं कि सुजान भइया अब इस दवा से बिल्कुल····

पिताजी : बकवास है सब।

[पिताजी कुर्सी पर बैठते हैं। मत्ती का बाहर प्रस्थान। पिताजी अखबार उठाकर पढ़ने लगते हैं। कुछ ही क्षणों बाद भीतर से हरिपदम का प्रवेश।]

पिताजी : कैसी तबीअत है अब सुजान की ?

हरिपदम : नार्मल है। पूर्वी कह रही है कि वह शीघ्र ही अब सुजान को इस रोग से सदा के लिए मुक्त कर देगी।

पिताजी : हूँ जैसे कि तुम्हें मुक्त किया है।

हरिपदम : ठीक है, मैं आपसे बहस नहीं करना चाहता। मेरा विश्वास है कि जिस तरह से उसने पिछले तीन महीनों में सुजान का दायाँ हाथ ठीक किया है, उसी तरह यह····।

पिताजी : सुजान का दायाँ हाथ डाक्टर मुकर्जी के इन्जैक्शन से ठीक हुआ है, कि उन फ़ज़ूल की दवाइयों से ?

हरिपदम : नहीं, सिर्फ पूर्वी के कारण।

पिताजी : पूर्वी····पूर्वी ! इस कदर वह अनजान लड़की तुम्हारे दिलो-दिमाग पर छा गई है कि मैं देखता हूँ कि उसके अलावा तुम इस दुनिया में और कुछ सोच ही नहीं पाते।

हरिपदम : जी हाँ, पूर्वी जैसी लड़की मैंने कहीं और····

पिताजी : तुम्हारा दिमाग खराब है।

हरिपदम : खैर।

[चुपचाप अखबार पढ़ने लगते हैं। बाहर से दवा लिए तभी मत्ती का प्रवेश।]

हरिपदम : दोनों दवाइयाँ मिल गईं ?

मत्ती : जी हाँ।

[मत्ती भीतर चला जाता है।]

पिताजी : (सहसा) यह क्या है ? अखबार में पूर्वी के साथ तुम्हारे विवाह के 'इंगेजमेंट' की खबर ! कैसे छपी है यह खबर ? इसे किसने दिया अखबार में ?

हरिपदम : मैंने।

पिताजी : (अखबार पलटकर आवेश में उठ जाते हैं।) तुम होश में हो कि नहीं ?

हरिपदम : जी हाँ, होश में हूँ।

पिताजी : नहीं, नहीं, तुम होश में नहीं हो। तुम्हें अपनी इज़्ज़त-आबरू का ज़रा भी ख्याल नहीं। जिन्दगी-भर की मेरी सारी कमाई तुम इस तरह मिट्टी में मिलाना चाहते हो।

हरिपदम : (चुप है।)

पिताजी : इसी के लिए मैंने तुम्हें पाल-पोसकर इतना बड़ा किया है ?

[हरिपदम चुपचाप भीतर जाने लगता है]

पिताजी : (अखबार उठाकर हरिपदम के ऊपर फेंकते हुए) यह अखबार

भी अपने संग लेते जाओ। मज़ाक समझ रखा है।
[हरिपदम घूमता है।]

हरिपदम : कैसा मज़ाक ? मैंने कोई मज़ाक नहीं किया है। यह मेरी ज़िन्दगी है। मैंने पूर्वी को चाहा है, और अब मैं उससे शादी करना चाहता हूँ।

हरिपदम : हैं क्यों नहीं ! पर आप तो रहना ही नहीं चाहते। आप तो यह सारी चीज़ महज़ गुस्से में सोच रहे हैं —केवल प्रतिक्रिया में।

पिताजी : यानी तुम्हारे इस फैसले में मैं कहीं नहीं हूँ !

पिताजी : ऐसा तुम्हें लगता ही होगा। हर रोगी को औषधि कड़वी लगती है।

हरिपदम : तो मैं रोगी हूँ आपकी नज़र में ?

पिताजी : और क्या है यह ? कोई स्वस्थ आदमी इस तरह शादी की बात सोचता है ? एक अनजान लड़की रेल की यात्रा में मिल गई। ज़रा-सी प्रेम की बातें हो गईं। बस उससे शादी तय ! न लड़की के कुल-शील का पता, न उसके खानदान के बारे में पता, न उसके माँ-बाप से भेंट, बस, बीच ही में खिचड़ी पक गई। जैसे कोई खेल है यह। कहाँ यह पूर्वी, जैसा कि तुम मुझे बताते हो क्षत्री की लड़की, दार्जीलिंग की रहने वाली ! और कहाँ हम कायस्थ, यहाँ बनारस के रहने वाले ! यह सब क्या तमाशा है !

हरिपदम : इसमें तमाशा क्या है ! आप महज़ किसी के परिचय को ही महत्त्व देते हैं। जाति, स्थान, कुल-परम्परा, मेरे लिए इनका कोई भी महत्त्व नहीं। मेरे लिए सारा महत्त्व किसी के आन्तरिक परिचय का है।

पिताजी : पर उस आन्तरिक परिचय में कोई छल हो तो ? क्योंकि उसका कोई गवाह और नजीर तो है नहीं।

हरिपदम : उसका गवाह मेरा हृदय है, मैं खुद नज़ीर हूँ—(रुककर) आप मुझे बताइये न, पूर्वी में क्या दोष है आपकी नज़र से ?

पिताजी : मैं क्या बता सकता हूँ उसके बारे में ! उसके बारे में उतना ही तो जानता हूँ जितना कि उसने और तुमने मुझे बताया है। और तुम भी तो उसके विषय में उतना ही जानते हो जितना कि उसने तुम्हें बताया होगा। (रुककर) क्या कोई अपने विषय में सही-सही बता सकता है ? गैरमुमकिन·····।

हरिपदम : क्यों नहीं ? पूर्वी यहीं बनारस यूनिवर्सिटी की पढ़ी हुई है। उन्नीस सौ पचपन में इसने यहीं से बी० एस-सी० पास किया है।

पिताजी : दार्जीलिंग से यहाँ पूर्वी इतनी दूर पढ़ने आई थी ?

हरिपदम : क्योंकि उस समय पूर्वी के पिता यहीं पी० ए० सी० बटैलियन के कैप्टन थे।

पिताजी : पूर्वी कैप्टन की लड़की है ?

हरिपदम : जी हाँ। पूर्वी एक ऊँचे खानदान की लड़की है। इसके एक बड़े भाई कलकत्ते में डाक्टर हैं, दूसरे आसाम में इंजीनियर।

पिताजी : ताज्जुब है ! (रुककर) लेकिन फिर यह इस तरह यहाँ नौकरी क्यों करती है ? क्या बताया था तुमने, सारनाथ में क्या नौकरी है इसकी ?

हरिपदम : विकास-क्षेत्र सारनाथ में महिला मंगल सहायक विकास अधिकारी ए० डी० ओ० डब्ल्यू० डब्ल्यू०।

पिताजी : ए० डी० ओ० डब्ल्यू० डब्ल्यू० !

हरिपदम : इतना परिचय आपके लिए काफी नहीं है क्या ?

पिताजी : तुम्हें मैं क्या बताऊँ कि कितना परिचय काफी है और कितना····

हरिपदम : आपकी तरह मैं ज़िन्दगी को इस तरह तौलकर नहीं देखता।

पिताजी : पर कुछ तो देखते हो ?

हरिपदम : जी हाँ देखता क्यों नहीं, पर वह व्यवसाय की भाषा में नहीं बाँधा जा सकता। वह केवल अनुभूति है, और आप उसे नहीं समझ सकते····फिर मैं क्या करूँ ?

पिताजी : पर क्या तुम जो समझ रहे हो, वह सही है ?

हरिपदम : क्या सही है क्या गलत है, इसे पहले से ही मानकर चलना यह आपकी दुनिया है····मेरी दुनिया तो अभी शुरू हो रही है····मैं अपनी इस नन्हीं-सी दुनिया को जीना चाहूँगा·····अपनी तरह से····।

पिताजी : अपनी तरह से जीना चाहोगे। ठीक है····। पर क्या मैं तुम्हारी उस दुनिया को ज़रा-सा जान भी न सकूँगा····।

हरिपदम : शायद नहीं····पर इसमें आपका दोष नहीं है पिताजी ! कारण वह समय है, जो मेरे और आप के बीच से बीत गया है।

पिताजी यह समय बीतने की बात तो सब पर लागू होती है।

हरिपदम : जी हाँ, एक ओर यही बीता हुआ समय पिता से पुत्र को भी अजनबी बना देता है, और दूसरी ओर यही बीता हुआ समय दो अजनबी इंसानों को एक-दूसरे से बाँध देता है····। पूर्वी और मेरे बीच यही हुआ। अनेक अजनबी लोगों के बीच दो अजनबी ट्रेन के एक डिब्बे में बैठे। मुझ अजनबी को कालरा हो गया····एक छोटे-से स्टेशन पर उतार दिया गया। एक अजनबी लड़की मृत्यु के उस संघर्ष में मेरे साथ

खड़ी थी। वह समय····उसके बाद का समय····और उससे जुड़ा हुआ तब से एक-एक क्षण हम दोनों को बाँधता गया। (सहसा) पर—पर ये बात मैं किससे कर रहा हूँ। ·····आपके लिए तो ये बातें बिल्कुल बेवकूफी की हैं न !

पिताजी : जो काम मेरा बेटा करे, उसे मैं बेवकूफी कैसे कहूँ ! (रुककर) जवानी में इस तरह भेंट-मुलाकात तो हुआ ही करती है—चाहे वह ट्रेन हो, चाहे 'बस' हो ····और कभी-कभी तो पैदल ही मुलाकातें हो जाती हैं।

हरिपदम : पिताजी !

पिताजी : हां, हां, मैं तुम्हारी ही बातों पर गौर कर रहा हूँ।

हरिपदम : मेरी बात बस मेरी ही है।

[तेज़ी से जाने लगता है।]

पिताजी : पर मेरी बात भी तो सुनो ! मेरी और भी मजबूरियाँ हैं बेटे ! पहले मुझे ममता बेटी की शादी करनी है। ममता तुम्हारी इकलौती बहन है। इस साल वह बी० ए० पास हो जाएगी और अगले साल ही मुझे उसकी शादी करनी है।

हरिपदम : जी, बिल्कुल ठीक है।

[खामोशी।]

पिताजी : मैंने तुम्हारे ब्याह का स्वप्न देखा था। तुम्हें पता है मैं ज़िन्दगी भर सरकार के नहर विभाग में ओवरसीयर था। मैंने कभी भी एक पैसे की बेईमानी नहीं की। न किसी से कभी एक पैसा घूस ही लिया। कितनी गाढ़ी कमाई से मैंने तुम्हें एम० ए० तक पढ़ाया

है। और यह छोटा-सा घर मैंने तुम्हारे ही लिए बनवाया है।

हरिपदम : और इस घर में आप उसी तरह की बहू ले आना चाहते होंगे, जो दहेज में अपने साथ मेरी पढ़ाई में लगे सारे रुपये और इस घर की····

पिताजी : हरिपदम, चुप रहो ! (रुककर) तुम्हारे दिमाग में अपने पिता की यही कल्पना है। बोलो, उस अजनबी लड़की के साथ तुम्हारी कल्पना इतनी छोटी हो गई ?····मैं तुम्हें अब और छोटा नहीं बनने देना चाहता। जाओ ? बाखुशी पूर्वी से शादी कर लो।

हरिपदम : यह आप कह रहे हैं ?

पिताजी : हाँ, मैं कह रहा हूँ !

हरिपदम : पिताजी····

पिताजी : ब्याह तुम्हारा होना है। और यह लड़की तुम्हें अगर इस तरह पसन्द है, तो मुझे क्या ऐतराज हो सकता है। तुम खुश रहो; मुझे और क्या चाहिये !

हरिपदम : पिताजी,····मुझे एकाएक विश्वास नहीं हो पा रहा है।

पिताजी : मुझ पर····या उस पूर्वी पर ?

हरिपदम : आप यह सब नाराजगी में तो नहीं कह रहे हैं ?

पिताजी : नाराजगी और खुशी।····जब तुम पिता होगे न, तभी इस पिता को तुम समझ सकोगे।

हरिपदम : लेकिन····

पिताजी : लेकिन-मगर कुछ नहीं। तुम समझते हो कि पूर्वी तुम्हारे

जीवन के लिए बिल्कुल ठीक है, तो यही मेरे लिए खुशी है।

हरिपदम : (चुप है।)

पिताजी : मेरी-तुम्हारी खुशी अलग-अलग नहीं है।

[उसी क्षण दरवाजे पर पूर्वी दीखती है।]

पिताजी : पूर्वी, मैंने तुम दोनों की शादी मंजूर कर ली।

पूर्वी : पिताजी !

पिताजी : हां, हां, मैं खुश हूँ।

पूर्वी : पर क्या यह सच है पिताजी ?

पिताजी : तुम्हारा क्या ख्याल है ?

पूर्वी : मेरा····मैं····?

पिताजी : हां, हां, तुम क्या सोचती हो ?

पूर्वी : मैं !

पिताजी : हां, हां तुम !

हरिपदम : (सहसा) हमारा ब्याह और क्या ?

पूर्वी : क्यों पिताजी !

पिताजी : हां····पर मैं तुमसे पूछना चाहता हूँ कि····।

पूर्वी : अब यह कैसा प्रश्न है आपका ?

पिताजी : यह कोई प्रश्न नहीं है। मैं सिर्फ तुम्हारे मन की बात जानना चाहता हूँ।

पूर्वी : अब हमारे ब्याह के लिए आपका कोई विरोध नहीं है ?

पिताजी : हां, कोई विरोध नहीं।

पूर्वी : दिले।

[बढ़कर हरिपदम का हाथ थाम लेती है। दोनों अन्दर जाने लगते हैं।]

पिताजी : पर मेरी बात तो रह गई !

पूर्वी : कैसी बात ?

पिताजी : वही तुम्हारी बात ।

पूर्वी : मेरी बात ?

हरिपदम : (पूर्वी से) हमारे ब्याह के बारे में तुम्हारा मन जानना चाहते हैं पिताजी ।

पूर्वी : मन की बात····। यह भी कोई कहने की बात हुई !

पिताजी : ठीक है····पर अब कैसा पर्दा ! तुम्हें खुलकर अब बताना चाहिए । तुम्हारी अब एक नई जिन्दगी शुरू होने को है । ····क्यों बेटी, बोलो अब·····!

[पूर्वी बोलना चाहती है, पर वाणी नहीं फूट पाती । वह दौड़कर पिताजी के चरणों पर जा गिरती है ।]

पिताजी : (उठाते हुए) ठीक है । मेरा आशीर्वाद तुम दोनों को । यह शादी मुबारक हो !····मुबारक हो यह शादी ! (रुक कर) बैठो····बैठो तुम लोग । मैं चाय भेजता हूँ बैठो ! और आज मुँह भी मीठा होना चाहिए । ठीक—।

[प्रसन्नमुख पिताजी अन्दर चले जाते हैं ।]

हरिपदम : आओ, बैठो ।····क्या सोच रही हो ?

पूर्वी यही कि पिताजी को आज हो क्या गया ?

हरिपदम : हमारा भाग्य !····पिताजी के इस बड़े रूप की मैंने कभी कल्पना नहीं की थी ।

पूर्वी : दर्पन कहा करती थी, इस दुनिया में सबसे ज्यादा आश्चर्य-जनक इंसान है ।

हरिपदम : और वही मेरे लिए तुम हो !

पूर्वी : मैं ? यह कैसे ?

हरिपदम : प्यार आश्चर्यजनक होता है न !

पूर्वी : पर कभी-कभी आश्चर्य में झूठ मिला रहता है न !

हरिपदम : न जाने कितना-कितना झूठ-सच मिलकर ही तो वह बड़ा होता है ।

पूर्वी : धत्, तुम बड़े झूठे हो !

[मान से किनारे हट जाती है ।]

हरिपदम : सच !

पूर्वी : मैं नहीं बोलती ।

हरिपदम : मैं आज तुम्हारी दर्पन बहन को चिट्ठी लिखूंगा कि तुम्हारी बहन पूर्वी धत्-धत् कहती है । क्या मैं हाथी हूँ और यह फीलवान है ?

[पूर्वी हंस पड़ती है ।]

पूर्वी : दर्पन तुम्हारी चिट्ठी का जवाब ही नहीं देगी ।

हरिपदम : जैसे तुम्हारी चिट्ठियों का अब तक उसने जवाब नहीं दिया ।

पूर्वी : दार्जीलिंग के उस बौद्ध मठ में वह बहुत व्यस्त रहती है । बहुत जिम्मेदारी है उस पर । (पास आकर) बड़ी अभागन है वह दर्पन । उसे क्या पता कि जीवन क्या है····कितना सुन्दर है यह !

हरिपदम : ब्याह के बाद हम लोग वहीं दार्जीलिंग चलेंगे ।

पूर्वी : नहीं, नहीं, वह भी कोई जाने की जगह है !

हरिपदम : पर वहां दर्पन जो रहती है ।

पूर्वी : इसीलिए तो मैं और भी नहीं जाना चाहती ।····दर्पन को देखकर मेरा यही मन होता है कि उसे मैं····।

[सहसा चुप हो जाती है ।]

हरिपदम : उस दर्पन को तुम इतना याद करती हो, वह भी तुम्हें कभी याद करती है ?

पूर्वी : वह दर्पन जैसे सदा मेरे संग रहती है ।

हरिपदम : कितना प्यारा नाम है उसका····दपन ! सच तुमने उस दर्पन की इतनी बातें मुझसे की हैं कि मुझे ऐसा लगता है जैसे वह भी हमारे ही बीच में है। जैसे मैंने उसे देखा है। जैसे तुमसे कहीं ज्यादा मैं उसी से परिचित हूँ।

पूर्वी : नहीं, नहीं, ऐसा नहीं, बिल्कुल नहीं। ऐसा मत बोलो····।

हरिपदम : सच, जब से तुम मेरे जीवन में आई हो, तब से तुमने ज्यादातर उसी दर्पन की ही बातें मुझसे की हैं।

पूर्वी : सच दिले, वह मेरे लिए दर्पन ही है। मुझे ऐसा लगता है, मानो मेरे चारों ओर कोई दर्पन खिचा हो, और मैं उसी में चुपचाप बैठी हूँ।

हरिपदम : और उस दर्पन में तुम अपनी छवि भी देखती हो।

पूर्वी : हां, कभी मैं उस दर्पन में अपनी छवि भी देखती हूँ और कभी वह दर्पन मेरे लिए पारदर्शी भी हो जाता है, तब मैं उसके परे एक नीला आकाश देखने लगती हूँ, जिसमें सितारों की एक नाव चल रही है। कभी वह नाव सहसा टूट जाती है, कभी फिर उसी तरह बनकर, पंख फैलाने लगती है। पर वह आगे तिर नहीं पाती। उसके पीछे क्षितिज की आंधी तब हाहाकार कर हंसती है और उसे धक्का देती है। फिर वह नाव अपने-आप में चिल्लाने लगती है और वह हाहाकार तब ऐसा लगने लगता है जैसे असंख्य यक्ष-शिशुओं को कोई मार रहा हो।

[भीतर से ममता का प्रवेश। अवस्था उन्नीस-बीस वर्ष के आस-पास सुन्दर और सुशील। हाथ में पुस्तक और नोटबुक लिए हुए है।]

ममता : (प्रसन्नमुख) वधाई ! मुबारक····!

हरिपदम : ओ। तुझे भी खबर हो गई ?

ममता : वह भी पिताजी के मुँह से। क्या जादू फिर गया पिताजी पर ?····मान गई मैं अपनी भाभी को ?

हरिपदम : बिल्कुल सही।

पूर्वी : पर सच, मैं कुछ नहीं जानती। पता नहीं, तुम्हारे भइया ने क्या कर दिया····मैं खुद हैरान हूँ तब से।

[उसी समय भीतर से मत्ती चाय और मिठाई लिये आता है।]

पूर्वी : (मिठाई की प्लेट लेकर) अच्छा लो पहले मिठाई खाओ।

ममता : इस मिठाई से काम नहीं चलेगा—डिनर·····!

[मेज पर चाय रखती है। पूर्वी और हरिपदम कुर्सी पर बैठते हैं।]

मत्ती : भइयाजी····भइयाजी—मैं कहूं कि आज का होई गवा···· पिताजी इतने खुस, इतने खुस कि हैम का बताई····हमका बड़े प्यार से 'अडर' किया कि ओ मत्ती, जा, बाहर चाय और मिठाई लगा। (हंस पड़ता है) चाय के साथ मिठाई हमका बताई की····।

हरिपदम मुझे भी ताज्जुब है ?

मत्ती : अरे हम का बताई साहेब कि हम का बताई !

[हंसता हुआ भीतर चला जाता है।]

हरिपदम : ममता, देख तेरी भाभी अच्छी है न ?

ममता : भाई जान ! इसका जवाब तो आपको देना पड़ेगा। जिस समय मैं अपने हाथों भाभी को दुल्हन के रूप में सजाकर आपके सामने खड़ी करूंगी। भाभी के हाथ में जब वह जयमाल होगा।····हूँ, आदाबअर्ज !

[हसती हुई तेजी से बाहर भागती है।]

हरिपदम : अरे रे, एक कप चाय तो पीती जा।

ममता : भइया, मेरा क्लास है ! प्लीज····।

[चली जाती है।]

हरिपदम : अरे, क्या गुमसुम हो गई। अभी से····

पूर्वी : (शर्मा जाती है।) सोचती हूँ, जब मैं दुल्हन बनूँगी तो कैसी लगूँगी ?

[चाय पीने लगती है।]

हरिपदम : कैसी लगोगी तुम ? देखो मेरी आँखों में ! देखो न ! नहीं देखोगी !

पूर्वी : नहीं, नहीं, मेरी हिम्मत नहीं पड़ती ! सच, मैं अपने को कभी नहीं देखना चाहती।

[दोनों चुपचाप चाय पीने लगते हैं।]

हरिपदम : सुनो ! दर्पन तुमसे कितनी बड़ी है ? बताओ।

पूर्वी : वह बड़ी कहाँ है : वह तो मुझसे एक साल छोटी है। पर देखने में वह बड़ी लगती है।

हरिपदम : अच्छा ! विवाह के बाद फौरन ही हम लोग दार्जीलिंग चलेंगे। फिर वहीं तुम्हारी दर्पन बहन से जी भर के भेंट करेंगे।

पूर्वी : नहीं, नहीं, हम लोग कश्मीर चलेंगे। (रुककर) जो भिक्षुणी है उससे क्या मिलना !

हरिपदम : पर वह दर्पन तुम्हारी बहन है। तुम्हें इतना प्यार करती है।

पूर्वी : तो क्या हुआ ?

हरिपदम : (साश्चर्य) तो क्या हुआ ? तो तुम उससे मिलना नहीं चाहोगी क्या ?

पूर्वी : प्यार के माने मिलना ही होता है क्या ?

हरिपदम : (चुप रह जाता है।)

पूर्वी : अरे, चुप क्यों हो गए ? (उठती हुई) अजी गोली मारो उस दर्पन को। (बढ़कर हरिपदम के पीछे खड़ी हो जाती है। उसके बालों को छूती हुई) अब मैं दर्पन के बारे में कभी बात नहीं करूंगी।

हरिपदम : सच ?

पूर्वी : बल्कि उसे सोचूँगी तक नहीं।

हरिपदम : (उसके हाथ को पकड़ता हुआ) सच ?

पूर्वी : यह क्या तुम 'सच-सच' की रट लगाते हो ? यह मुझे बिल्कुल पसन्द नहीं।

[हरिपदम उठता है।]

हरिपदम : (उठते हुए) सच ?····नहीं-नहीं, आई एम सॉरी। बोलो, तुम्हें अच्छा क्या लगता है।

पूर्वी : झूठ····दिले, मुझे झूठ अच्छा लगता है।

हरिपदम : मैं अच्छा लगता हूँ कि नहीं ?

पूर्वी : धत् !

[बेहद लजा जाती है।]

हरिपदम : और पिताजी ?

पूर्वी : हूँ।

हरिपदम : हूँ क्या ?

पूर्वी : (हंस पड़ती है) बताऊं ?·····सबसे अच्छे मुझे सुजान भैया लगते हैं। स्वीट·····इनोसेंट·····

हरिपदम : और मैं ?

पूर्वी : क्यों बताऊं ?

हरिपदम : अच्छा मत बताओ। पर यह तो बताओ, आज पिताजी ने तुम्हें चकित कर दिया न ?

पूर्वी : पता नहीं क्या हो गया पिताजी को । मैं तो जानती ही थी·····।

हरिपदम : क्या·····?

पूर्वी : पहले पिताजी बिल्कुल सही कहते थे । कोई एक अनजान लड़की संयोग से कहीं मिल गई, थोड़ा प्रेम या मोह हो गया । इसके माने यह नहीं कि उस अजनबी लड़की से शादी ही कर ली जाए ।

हरिपदम : और ?

पूर्वी : मैं सोचती हूँ····क्या सबका ब्याह होता है ? (रुककर) कभी-कभी ब्याह होकर भी तो ब्याह नहीं होना ।

हरिपदम : और कभी बिना ब्याह के भी जो ब्याह हो जाता है वह ? ·····बताओ, क्या है ?·····बोलो !

पूर्वी : वही तुम हो ।

हरिपदम : और तुम ?

पूर्वी : मैं कुछ नहीं हूँ । विश्वास मानो दिले, मैं कुछ भी नहीं हूँ···· कुछ भी नहीं ।

हरिपदम : तभी तो तुम हो ।

पूर्वी : पता नहीं ।

हरिपदम : क्या पता नहीं ?

[दोनों चुप हैं ।]

पूर्वी : अच्छा सुनो तो ! समझो, तुम्हारे संग मेरा ब्याह हो चुका ।

हरिपदम : बिलकुल !·····पर अभी ब्याह का कर्मकांड बाकी है ।

पूर्वी : कर्मकांड ! तुम्हें पता है, महात्मा बुद्ध ने कर्मकाँड का कितना विरोध किया है ?

हरिपदम : हां, पर ब्याह के कर्मकाँड का नहीं ।

पूर्वी : क्या·····?

हरिपदम : अच्छा, अच्छा ! चलो, कहीं टहल आयें ।

पूर्वी अरे ! तुम आज यूनिवर्सिटी नहीं जाओगे क्या ?

हरिपदम : छुट्टी !

[उसी समय बायीं ओर से डाकिये की आवाज]

आवाज : डाकिया हुजूर !

हरिपदम : अभी आया ।

(बायीं ओर जाकर डाक ले आता है । डाक में कुछ पत्र हैं और एक पत्रिका है ।)

हरिपदम : (देखता हुआ) यह सुजान का 'ऐयर मेल'····· यह एक चिट्ठी पिताजी की । यह मेरी । यह बुक पोस्ट ! (देखता हुआ) तुम्हारी पत्रिका !

पूर्वी : बड़ा सुन्दर है सुजान भइया का खत । ओह ! जापान से आया है ।

हरिपदम : हां, उसकी वहाँ एक 'पेन फ्रेण्ड' है·····युकाई ।

पूर्वी : ओह ! वन्डरफुल ! पत्रिका वहीं मेज पर फेंककर भागती है ।) सुजान भइया !·····युकाई·····युकाई ।

[भीतर प्रस्थान] हरिपदम कुर्सी पर बैठकर अपनी चिट्ठी पढ़ता है फिर वह पत्रिका खोलता है ! उसी समय भीतर से पिताजी का प्रवेश । स्नान के बाद दूसरी धोती और ऊपर नंगे बदन पर सूती शाल जैसा कोई वस्त्र ओढ़े हुए हैं ।]

पिताजी : मेरी भी कोई डाक है ?

हरिपदम : (खड़ा हो जाता है) जी, आपका भी यह खत है। [पिताजी खत खोलकर पढ़ने लगते हैं। हरिपदम पत्रिका देखता है।]

पिताजी : (प्रसन्नमुख) इस तरह के खेतों का जवाब अब तुम्हें ही देना होगा।

हरिपदम : कैसे खत ?

पिताजी : लो, यह खुद पढ़ लो।

हरिपदम : मेरी शादी के लिए पूछताछ ? ठीक है मैं सब नाते रिश्तेदारों को आपकी ओर से जवाब दे लूंगा।

[पिताजी का भीतर को प्रस्थान। हरिपदम पत्रिका देखने लगता है। कुछ ही क्षणों बाद भीतर से पूर्वी का प्रवेश।]

हरिपदम : पूर्वी, इस पत्रिका में तुम्हारा लेख है : 'व्यक्ति और मानव कल्याण'। बीच में तुम्हरा चित्र भी है।

[पूर्वी झटके से पत्रिका छीन लेती है और उसे बन्द करके हाथ में ले लेती है।]

पूर्वी : यह एक पुराना लेख था—मैंने यों ही इसे छपने के लिए भेज दिया था।

हरिपदम : पिताजी इसे पढ़कर बहुत खुश होंगे।

पूर्वी : नहीं-नहीं, इसे कोई नहीं पढ़ेगा। मैं इसे सुजान भइया को दे आती हूँ।

[तेजी से अन्दर चली जाती है और दौड़ी हुई बाहर आती है।]

हरिपदम : आज भी तुम्हारी दर्पन बहन की कोई चिट्ठी पत्री नहीं आई ? लगता है, अब तक तुमने ब्याह के सम्बन्ध में

दर्पन को नहीं लिखा। अब मैं खुद उसे एक चिट्ठी ज़रूर लिखूंगा.....।

पूर्वी : नहीं-नहीं तुम क्यों लिखोगे ?.....मैंने कई बार तो लिखा उसे, पर उसका कोई जवाब ही नहीं आता तो क्या करूँ ?

हरिपदम : इसके माने दर्पन की स्वीकृति है—मौनं स्वीकार-लक्षणम्।

पूर्वी : दरअसल वह बहुत व्यस्त भी रहती है बेचारी ? गुम्मा के बौद्ध अस्पताल में जब से वह डाक्टरनी का कार्य करने लगी है—तब से उसे ज़रा भी फुर्सत नहीं रहती। (रुककर) पर वह दर्पन मेरे लिए क्या सोचती होगी, यही मैं सोचती हूँ।

हरिपदम : और मेरे दोस्त अहबाब हमारे विषय में क्या सोचते हैं, ज़रा यह चिट्ठी पढ़ो।

(पूर्वी बड़े मनोयोग से चिट्ठी पढ़ती है। हरिपदम उसके खिलते हुए मुख को एकटक देख रहा है]

पूर्वी : तुम पहले अपनी शादी करना नहीं चाहते थे क्या ?

हरिपदम : (नकारात्मक सिर हिलाता है।)

पूर्वी : फिर तुम इस तरह एक अनजान लड़की से शादी करने के लिए क्यों तैयार हो गए ?

हरिपदम : तुम्हीं बताओ न !

पूर्वी : तुम्हारी बात मैं क्या जानूं !

हरिपदम . (चुप है—उसे एकटक देख रहा है।)

पूर्वी : मेरी बात तुम जानते हो क्या ?

[हरिपदम बच्चों की तरह नकारात्मक ढंग से महज सिर हिलाता है।]

पूर्वी : (शिशुवत् फिर पूछती है) तुम कुछ नहीं जानते ?

हरिपदम : (नहीं)

पूर्वी : मेरी जगह कोई अजनबी लड़की उसी तरह तुम्हें मिल जाती तो तुम शादी कर लेते ?

हरिपदम : (नहीं।)

पूर्वी : तुम्हारी दृष्टि में मैं सबसे अच्छी हूँ।

हरिपदम : (हां)

पूर्वी : और अगर मैं अच्छी न होऊं तो ?

हरिपदम : (नहीं)

पूर्वी : मुझ पर तुम्हारा इतना विश्वास ?

हरिपदम : (हाँ।)

पूर्वी : नही बोलोगे ?

हरिपदम : (हां।)

पूर्वी : जाओ, मैं तुमसे नहीं बोलती।

[भीतर जाने लगती है। हरिपदम उसका रास्ता रोककर खड़ा हो जाता है।]

पूर्वी : जाने दो मुझे यहाँ से। मैं सुजान भइया के पास जाकर बैठूंगी। उसी से बातें करूंगी। जाने दो मुझ।.....

हरिपदम :(हाथ पकड़कर) अच्छा अच्छा बात करूंगा। बोलो, क्या बात करूँ ? बोलो.....। अरे अब बोलो न ?

[उसी समय भीतर से मत्ती आता है। पूर्वी हरिपदम से अपना हाथ छुड़ा लेती है। मत्ती आंख बचाकर चाय के बर्तन ले जाता है।]

हरिपदम : अब बोलो ?

पूर्वी : तुमसे नहीं बोलूंगी !

हरिपदम : नहीं बोलू छ्वं ?

पूर्वी : (हंस पड़ती है।)

हरिपदम : दिले लाज लागू छ्वं।

[पूर्वी खिलकर हंस पड़ती है। हरिपदम की उन्मुक्त हंसी उसमें रंग भर देती है।]

पूर्वी : मैं अब तुम्हारे खिलाफ दर्पन को एक सख्त चिट्ठी लिखूंगी।

हरिपदम : जैसे ?

पूर्वी : यही कि पूर्वी नामक एक सीधी-सीधी लड़की को हरिपदम नामक लड़का मिला.....और....और

हरिपदम : और....हो गया !

पूर्वी : तारा को सजो बरात
दुलहिन बीच मां आऊंदे छ्वं
हेरी मात दुलहिन बीच मां
तेहि आंगन बीच शहनाई बज्यो
भियो दुलहिन आज खूब रूपो थियो
तेहि आंगन बीच बिदा भयो.....

हरिपदम : और वह नेपाली गीत ?.....'कालो कालो रात मां, देखेन्न बादला; बिरहा को गीत मां, बाज्दछन मादला।'

पूर्वी : नहीं, नहीं ! या गीत मां नई गाऊं छ्वं !

हरिपदम : क्यों नहीं गाऊं छ्वं।

पूर्वी : दिले लाज लागू छ्वं।

[दोनों की उन्मुक्त हंसी। उसी बीच एक बैसाखी के सहारे सुजान का प्रवेश। पचीस वर्ष का युवक, कुर्ता-पाजामा पहने अस्त-व्यस्त केश, दाढ़ी बढ़ी हुई।]

पूर्वी : (बेहद प्रसन्न) सुजान भईया !

[सुजान को संभालकर वहीं कुर्सी पर बिठाती है।]

हरिपदम : कैसी तबियत है अब तुम्हारी ?

सुजान : बिल्कुल ठीक। (रुककर) आप लोगों की इतनी मीठी हंसी सुनकर यहां चला आया ! (पूर्वी को देखकर सहसा) .....भाभीजी, ओह देखिए.....यह मेरे मुंह से क्या फूट आया !

पूर्वी कोमल ! मानव कवि !

सुजान : कवि.....सच; पहले कविता किया करता था; दद्दा से पूछिए।

पूर्वी : क्यों ?

हरिपदम : बिल्कुल सही (रुककर) सुनो, तुम लोग यहाँ बैठो ! मैं तब भीतर जाकर देखूं—नहीं तो पिताजी बहुत बिगड़ेंगे कि सुजान इस तरह पलंग से उठकर यहाँ चला आया !

[सस्नेह दोनों को देखता हुआ भीतर जाता है।]

पूर्वी : सुजान भइया, समझो कि तुम अब बिल्कुल ठीक हो गये।

सुजान : सच !

[सुजान मुस्करा पड़ता है—लगता है बहुत दिनों बाद उसमें यह हंसी फूट रही है।]

पूर्वी : (पास आकर बैठ जाती है।) सुजान भइया, तुम्हीं से एक बात पूछती हूँ—हम अपनी बातों में अक्सर 'सच' यह क्यों जोड़ते रहते हैं !.....क्या

हमारी बातों में सदा झूठ का भय बना रहता है ? या कि बिना झूठ के कोई बात सच ही नहीं होती ?

सुजान : मैं सोचता हूँ भाभी, जीवन में सच और झूठ की कोई निरपेक्ष सत्ता नहीं होती।

पूर्वी : फिर निरपेक्षता क्या है ?

सुजान : कुछ भी नहीं !

पूर्वी : ईश्वर भी नहीं !

सुजान : नहीं।

पूर्वी : नहीं ?

सुजान : हाँ, यदि ईश्वर है।

[दोनों चुप हो जाते हैं।]

पूर्वी : अच्छा छोड़ो इन बातों को। तुम आज अपनी रची हुई कोई कविता सुनाओ न !

सुजान : वह तो सब भूल गया !.....उपमा के साथ मेरी कविता भी विदा हो गई।

पूर्वी : कैसी उपमा ?

सुजान : (चुप रह जाता है।) तुम्हें आज मैं सब बताऊँगा भाभी ! (कुछ क्षण आँखें मूँदे रह जाता है।) हम दोनों बी० ए० में पढ़ते थे। विश्वनाथ जी के मन्दिर जाकर हमने कहा था—'हमारा ब्याह होगा।' और एक दिन यह बात मैंने अपने पिताजी से बताई। पिताजी ने उल्टे उपमा के घर जाकर यह कह दिया कि 'हमारा यह विवाह कभी नहीं हो सकता।' (रुक जाता है, फिर जैसे साहस बटोरकर) उसी वर्ष मेरी उपमा बीमार पड़ी और मुझे सदा के लिए छोड़कर.....

पूर्वी : यह तो·····! (कुछ क्षणों बाद) पर तुम्हारा जीवन····· तुम्हारी रचना·····

सुजान : मेरे उस प्रेम से बड़ी है·····यही तुम कहना चाहती हो न ?

पूर्वी : (चुप है।)

सुजान : उससे बड़ा कुछ नहीं है ! बल्कि उससे अलग कुछ नहीं है ! उसी के ही दोनों नाम हैं—जीवन और रचना !

पूर्वी : पर यदि उस प्रेम की किसी में पात्रता न हो तो ?

सुजान : यह कैसा प्रश्न है·····मतलब ?·····बोलो····· बताओ न ! भाभी·····!

पूर्वी : क्या बताऊँ सुजान भइया, तुम से मैं सच-सच कह रही हूँ—मुझे इसी तरह बेमतलब के अस्पष्ट सवाल घेरे रहते हैं। मैं उन सवालों के अर्थ को कभी पकड़ ही नहीं पाती। (रुककर न जाने कहाँ देखने लगती है।) जब मैं तुम्हारे पास बैठती हूँ तो न जाने क्यों मुझे एक अजीब-सी शान्ति मिलती है। एक बहुत बड़ी शक्ति·····विश्वास मुझे छू-छू जाता है। मैं·····मैं·····! तुमसे बातें करूँ ·····तुम्हारे सामने अपने को तार-तार कर दूं। (सहसा रुककर जैसे कुछ पीकर) सुजान भइया ! तुम्हारे यह हरिपदम दद्दा इतने·····इतने अच्छे क्यों हैं ?

सुजान : बस, अच्छे हैं इसीलिए अच्छे हैं।

पूर्वी : पर बहुत अच्छा होना अन्याय नहीं है क्या ?

सुजान : हो सकता है।

पूर्वी : हो सकता है नहीं, है। (हँसना चाहती है।) सुजान भइया, मेरी इच्छा होती है कि इसी दम किसी तरह उड़कर काश,

मैं बहुत दूर चली जाती और वहाँ से अपने हरिपदम कं पेन-फ्रेंड बन जाती।

सुजान : पेन-फ्रेंड ?·····आप और भइया !

पूर्वी : हाँ, जैसे जापान की वह तुम्हारी 'पेन-फ्रेंड युकाई है

सुजान : युकाई ! वह अपरिचिता युकाई ?

पूर्वी : क्या मैं अपरिचिता नहीं हूँ सुजान भइया ? (रुककर) व युकाई कितनी अच्छी होगी !

सुजान : भाभी !

पूर्वी : फिर यह परिचय क्या है ?·····बताओ सुजान भइय क्या है मेरा परिचय ?

सुजान : पूर्वी·····भाभी !

[आनन्द से हँस पड़ता है।]

पूर्वी : और इस परिचय में यदि कोई छल हो तो ?

सुजान : वह छल तुम नहीं हो !

[पूर्वी बढ़कर सुजान का माथा चूम लेती है। स्नेहपूरित·····उस आँखें भर आई हैं।]

पूर्वी : (सुजान के दायें हाथ को अपनी हथेली में दाबे हुए) सुजा भइया !

सुजान : हम सबके परिचय में कहीं न कहीं वह छल सदा मौजू रहता है भाभी !

पूर्वी : फिर इस छल का दोषी कौन होगा ?

सुजान : (उठकर खड़ा हो जाता है।) वही अंधशक्तियाँ, जो बरब हमें छलती हैं·····

पूर्वी : सुजान भइया !

सुजान : जो जिसका अत्यन्त प्राप्त है, सहज है, नैसर्गिक है, हमारी रचनाशक्ति की मूल बुनियाद है, उसी से जो ह काट देता है।

[पूर्वी मंत्रमुग्ध सुजान को देख रही है।]

सुजान : इतनी सोचने-कहने की जो यह शक्ति मुझे मिली है इसकी जड़ में कौन है ? मैं अब नीरोग, स्वस्थ हो जाऊँगा····· यह विश्वास किसने दिया ? सब कुछ के बावजूद यह एक जीवन सुन्दर है, जीने योग्य है—कौन है वह, जो यह आस्था देता है ?

[पूर्वी की आंखें मुँद गई हैं, मूर्तिवत्।]

सुजान : अगर इसी का नाम छल है तो मेरे लिए और सारे शब्द निरर्थक हैं। उत्सर्ग, मानवता, करुणा, सत्य, अहिंसा-सब ?

[भीतर से उसी समय हरिपदम का प्रवेश।]

हरिपदम : सुजान, भीतर जाओ, तुम्हें पिताजी बुला रहे हैं।

सुजान : नहीं; मैं यहाँ बैठना चाहता हूँ।

[भीतर से पिताजी की पुकार आती है।]

हरिपदम : जाओ सुजान। देखो, अभी पिताजी·····

सुजान : जाऊँ भाभी ?

पूर्वी : हाँ, जाओ।

[सुजान भीतर जाता है।]

पूर्वी : सुजान भइया के साथ तो बड़ी करुण घटना घटी है। सुजान का उपमा से प्रेम·····और पिताजी का वह बर्ताव !

हरिपदम : मुझे अब तक याद है, उस लड़की के घर से लौटकर जब पिताजी घर आए और सुजान ने जब इनसे बातें करनी चाहीं तो पिताजी ने सुजान के मुँह पर थप्पड़ मारकर कहा था, 'गधा कहीं का। ज़रा आईने में पहले अपनी सूरत तो देख !' उसके बाद से ही सुजान बुखार में पड़ा

है। उसी में इसके दाएँ अंग पर फालिज गिरी····(रुककर उसी वर्ष उधर उपमा का स्वर्गवास·····तभी 'फिट' क वह पहला दौरा।

पूर्वी : ओह, सब इतनी जल्दी !

हरिपदम : सब एक के बाद एक घटता चला गया। और आज सुजा की यह दशा है।

पूर्वी : यह सब मुझे पहले क्यों नहीं बताया ?

हरिपदम : जो अशुभ है उसे क्या बताना।

पूर्वी : अगर इसी तरह मैं भी मर गई तो ?

हरिपदम : बुरी बात·····बहुत बुरी बात ! ऐसा कभी भी नह सोचते !

पूर्वी : दर्पन कहा करती थी, कि एक बार जीने के लिए बहु बार मरना पड़ता है।

हरिपदम : फिर वही दर्पन ?·····चलो, तुम्हें कहीं घुमा ले आऊँ चलो·····

पूर्वी : नहीं, बैठो यहीं ! बैठो न !

हरिपदम : अच्छा, एक बात सुनो। तुममें और दर्पन में कभी लड़ा नहीं हुई है ?

पूर्वी : बहुत बार हुई है। मैं उससे इतनी दूर चली आई हूँ त भी मुझे लगता है कि मैं अब भी उससे लड़ रही हूँ (रुककर) सुनो, बौद्ध मठ में लामा महाराज से उसकी ए बार सख्त लड़ाई हुई थी। वह कहती थी कि···जब सत ही परिवर्तनशील है तो बौद्ध मठ में वही पुरानी रूढ़ि क्यों ? लामा महाराज ने उत्तर दिया·····मानवता व सेवा के लिए। इस पर दर्पन बोली·····मानवता की सेव तो प्रेम है। बुद्ध को तो अन्ततः उस प्रेम से ही शान्ति मिल

थी। नहीं तो वह सुजाता की खीर और क्या है : इसी द्वन्द्व में वह दर्पन कई बार अपने उस बौद्ध मठ को छोड़ कर न जाने कहाँ-कहाँ घूमती रही। हरिद्वार, ऋषिकेश, बद्रीनाथ, रामेश्वरम्, वृन्दावन, कलकत्ता, बम्बई, काशी और……। वर्षों तक वह दार्जीलिंग से बाहर रही। याद है……एक बार उसने मुझे लिखा था…… ……पूर्वी ! स्वर्ग यदि मन को स्वर्ग के समान न लगे, मुक्ति यदि प्राणों को शान्ति न दे सके, हृदय यदि सारे सुखों के बावजूद मृग के समान दूर कानन में भटकता फिरे, तब उसकी क्या गति होगी ?

हरिपदम : तुमने क्या उत्तर दिया था ?

पूर्वी : (मौन रहती है।)

[उसी समय भीतर से पिताजी की पुकार आती है।]

पुकार : हरिपदम !

हरिपदम : (पूर्वी से) सुनो, अन्दर चलो ! पिताजी बुला रहे हैं।

पूर्वी : तुम जाओ न, तुम्हें बुला रहे हैं कि……

[मत्ती आता है।]

मत्ती : साहेब ! आपको पिताजी बुला रहे हैं।

हरिपदम : तुम भी चलो न। आओ……

[पूर्वी नहीं जाती। मत्ती के साथ हरिपदम का प्रस्थान। कुछ क्षणों बाद भीतर से पिताजी का प्रवेश।]

पिताजी : बेटी, तुमने ज़रा भी आराम नहीं किया न !

पूर्वी : दिन में भी क्या आराम पिताजी !

पिताजी : क्यों, एक बात पूछूँ; तुम अक्सर जिस दर्पन की बात करती हो, वह क्या तुम्हारी सगी बहन है ?

पूर्वी : जी हाँ !

पिताजी : वह बौद्ध भिक्षुणी है ?

पूर्वी : जी हाँ ! वहीं दार्जीलिंग के ही मठ में, लामा घुरा, गोम्मा, दार्जीलिंग।

पिताजी : पर वह बौद्ध भिक्षुणी क्यों हुई ?

पूर्वी : ऐसा हुआ कि जब वह तीन साल की थी, तभी हमारे परिवार के गुरु ने उसकी जन्मपत्री बनाई। उसकी वह जन्मपत्री अद्भुत थी। मूल नक्षत्र में जन्म, आठवें में मंगल, तीसरे में राहु, चौथे में केतु और सातवें में शनि। सिर पर उसके तीन लटें थीं……त्रिशूल लट। दाईं बाँह पर चन्द्रमा और कमल का चिह्न। गुरु महाराज ने बताया ……लड़की घर-परिवार में रखने योग्य नहीं है। इसे बौद्ध मठ में दे दिया जाना चाहिए, नहीं तो इससे पूरे परिवार का अमंगल होगा और इस तरह से वह दर्पन पाँच वर्ष की अवस्था में ही बौद्ध मठ में दान कर दी गई।

पिताजी : दान कर दी गई ?

पूर्वी : जी हाँ; मुझे याद है, वह पाँच वर्ष की बालिका सिर मुड़ाये नीचे से ऊपर तक गेरुआ वस्त्र पहने लामा भिक्षु-भिक्षुणियों के साथ हमारे दरवाज़े पर तब भिक्षा माँगने आई थी। एक वृद्ध भिक्षु अपने हाथ में सोने का चक्र घुमाता हुआ मेरी दर्पन बहन के संग चल रहा था। वही मंत्र पढ़ता हुआ 'ऊं मानी पेमे ओंम' (भगवान तुम्हारी रक्षा करे।) उस समय मेरे घर पर भीड़ लगी थी। मेरे पिता, मैं, दोनों भाई और बीच में मेरी रोती हुई माँ। दर्पन ने माँ के सामने दान-पात्र बढ़ाकर उससे भीख माँगी। माँ ने उसके दान-पात्र में सात मुट्ठी चावल डाला और वहीं बेहोश हो गई।

पिताजी : फिर तो अपने माँ-बाप की अकेली बेटी तुम्हीं बचीं ?

पूर्वी : जी हाँ !

पिताजी : फिर तुम पर कितनी बड़ी ज़िम्मेदारी है ! वे लोग अपने ढंग से तुम्हारा ब्याह करने का स्वप्न देखते होंगे।

पूर्वी : जी नहीं, इस विषय में उन लोगों ने अपना सारा अधिकार मुझे सौंप दिया है।

पिताजी : फिर भी, बिना उनकी राय के····।

पूर्वी : ठीक कहते हैं आप।

पिताजी : तुम इतनी पढ़ी-लिखी हो, इतनी समझदार, मैं तुम्हें क्या समझाऊँ।

पूर्वी : जी····।

पिताजी : (सहसा भाव बदलकर) सुनो बेटी पूर्वी !

[पिताजी पूर्वी के पास चले जाते हैं।]

पिताजी : बेटी, तुम जिस घर-परिवार की हो, वह बौद्ध धर्म का अनुयायी है न ?

पूर्वी : जी !

पिताजी : उस धर्म में सत्य और अहिंसा को ही सबसे बड़ा स्थान दिया गया है न ?

पूर्वी पिताजी, आप कहना क्या चाह रहे हैं ?

पिताजी : बेटी, मैं तुमसे सिर्फ सत्य और अहिंसा की बात कर रहा हूँ !

पूर्वी : मुझे इस सत्य और अहिंसा से भय लगता है, इसलिए मैं अपना ऐसा घर-परिवार छोड़कर····

पिताजी : पर सत्य और अहिंसा तो बहुत बड़ी चीज़ है बेटी !

पूर्वी : पता नहीं।

पिताजी : मैं तो बेटी गृहस्थ हूँ, मैं भला····।

पूर्वी : गृहस्थ क्या मनुष्य नहीं होता ?

पिताजी : क्यों नहीं !

पूर्वी : तो मैं भी तो मनुष्य ही हूँ !

पिताजी : पर तुम एक विशेष मनुष्य हो बेटी। तभी ईश्वर ने तुम्हारे भीतर इतनी करुणा, ममता और सहानुभूति दी है।

पूर्वी : नहीं, मैं वह विशेष नहीं रहना चाहती !

पिताजी : बुरा नहीं मानना, मैं तो यों ही बात कर रहा था। मैंने तो सब मंजूर ही कर लिया है। आगे तुम्हीं जानो बेटी। शादी-ब्याह का मामला है····।

पूर्वी : यह सब क्या कह रहे हैं पिताजी। मैं आपको बिल्कुल नहीं समझ पा रही हूँ ?

पिताजी : सच कहूँ ! बुरा मत मानना····मैं भी तुम्हें नहीं समझ पा रहा हूँ।

पूर्वी : अभी और क्या समझना है आपको !

पिताजी : मैं क्या बता सकता हूँ····

पूर्वी : फिर मैं ही क्या बता सकती हूँ ?

पिताजी : तुम्हीं जानो बेटी।

पूर्वी : मुझे लगता है कि आप····कि आप····।

पिताजी : क्या ?

पूर्वी : कुछ नहीं।

पिताजी : अजीब बात है, तुम खुलकर मुझसे बात नहीं करतीं !

पूर्वी : पता नहीं, मैं आपसे कैसे क्या बात करूँ ! मुझे न जाने क्यों, बड़ा डर लगता है आप से।

पिताजी : ताज्जुब है !

[उसी समय भीतर से हरिपदम आता है। वह दोनों को इस तरह खामोश पाकर देखता रहता रह जाता है।]

हरिपदम : आज कौन-सा दिन है ?

पिताजी : बताओ बेटी।

पूर्वी : सच, मैं ही बताऊँ !

[पिताजी हँस पड़ते हैं।]

पिताजी : आज मंगलवार है।

हरिपदम : मंगलवार।.....आज हनुमान मन्दिर नहीं गये पिताजी ?

पिताजी : मन्दिर ! पता है, मैं शाम को मन्दिर जाता हूँ और अभी दिन के क्या बज रहे हैं ?

हरिपदम : पता नहीं।

पिताजी : कुछ पता नहीं तुम्हें ?....वाह ! तुम बताओ बेटी, क्या बज रहे होंगे इस समय ?

हरिपदम : आप सारा प्रश्न दूसरे से क्यों करते हैं ? यह कैसा स्वभाव है आपका ?

पिताजी : मेरा स्वभाव....! आते ही पहला सवाल तो तुम्हीं ने किया था....कि आज कौन-सा दिन है।

हरिपदम : वह सवाल नहीं था।

पिताजी : फिर सवाल क्या होता है ?

हरिपदम : जिसमें शंका और अविश्वास की धार होती है।

पिताजी : तुम मुझे गलत समझते हो।

हरिपदम : नहीं, वह धार मैं महसूस करता हूँ।

पूर्वी : (सहसा) नहीं-नहीं। पिताजी ऐसी कोई बात नहीं कर रहे थे।

पिताजी : सुन लो इसे।

हरिपदम : मैंने सुना है।

पिताजी : धार किसी के मन में हो तो और कोई क्या कर सकता है !

पूर्वी : बस, मन उस धार की सूली पर ही लटक जाता है।

हरिपदम : पिताजी उस दर्द को नहीं जानते हैं।

[पिताजी हँस पड़ते हैं।]

पिताजी : ठीक सोचते हो तुम....बल्कि तुम्हें यह कहना था कि पिताजी के पास मन हीं नहीं है, फिर दर्द कहाँ होगा।

पूर्वी : नहीं पिताजी, आप बहुत अच्छे हैं।

पिताजी : मुझे मालूम है।

हरिपदम : सुनो, मैं ज़रा बाहर जा रहा हूँ।

पिताजी : अपने दोस्तों को ब्याह की खुशखबरी देने ?

हरिपदम : वह तो मैं पहले ही दे चुका हूँ।

पिताजी : अब बात और है.....तुम्हारे पिताजी भी अब इस ब्याह से खुश हैं।

हरिपदम : पता नहीं।

पिताजी : ओह, अब तक पता नहीं। (हँस पड़ते हैं) दोनों को पता नहीं।....जाओ देरी मत करो....बुरा मत मानना मेरी बात का।

[हरिपदम बाहर जाने लगता है।]

पूर्वी : रुको, मैं भी चलूँगी तुम्हारे संग।

पिताजी : नहीं-नहीं, अब उस तरह का घूमना-फिरना बंद....जब तक ब्याह नहीं हो जाता, तब तक तुम इस तरह अब बाहर नहीं घूम सकतीं।

[हरिपदम का प्रस्थान]

पिताजी : तभी तो मैं कहता हूँ, तुम जैसी लड़कियों के लिए यह शादी-ब्याह एक अजीब बंधन है।

पूर्वी : मुझे सारे बंधन मंजूर हैं।

[पिताजी एक अर्थभरी निगाह से देखकर चुपचाप अन्दर चले जाते हैं। पूर्वी मूर्तिवत् खड़ी रह जाती है।]

दूसरा दृश्य

[वही दृश्य। संध्या का समय। दृश्य में कोई नहीं है। बाहर से तेजी से पूर्वी आती है।]

पूर्वी : (पुकारती है) मत्ती····मत्ती····!

[भीतर से मत्ती दौड़ा आता है।]

मत्ती : का है साहेब !

पूर्वी : देखो, इधर कोई साधू आ रहा है। उससे कहो कि चला जाये यहाँ से। यहां साधू-संन्यासी के आने की कोई जरूरत नहीं।

[पूर्वी अंदर चली जाती है। मती सावधान हो जाता है।]

मत्ती : (पुकारकर) महाराज जी, किरपा आप इहां पधारें नहीं। अरे····रे····रे····आप तो महाराज दबाये चले आइ रहे हैं।

[दंडी का प्रवेश। नीचे से ऊपर तक गेरुआ वस्त्र धारण किये हुए। अवस्था पचास के लगभग। एक हाथ में दंड है, दूसरे में कमंडल।]

दंडी : कल्याण हो !

मत्ती : बस-बस, हो गया कल्याण। आपन तो कल्याण होई गया।

दंडी : दुःखी मत हो बंधु !

मत्ती : बंधु !····अरे···· !

दंडी : अरे ! ऐसा क्यों ?

मत्ती : बात ई है महाराज कि घर मा ई समय कोई नहींहै···· और आपको तो पता ही है कि जमाना खराब है।

दंडी : यह सब क्या कह रहे हो तुम ?

मत्ती : अरे आप लोगन से का छिपा है ! तरह-तरह के भेष बनाय के लोग आवत हैं मुशीवत नौकरान कै होत है।

दंडी : यहाँ कोई दर्पन माँ रहती है ?

मत्ती : क्या ? दरपन।····जौने मा मुँह देख जात है····। ओ हो, वही बात हुई न, आप वही लिये इहां आये ····।

दंडी : नहीं, नहीं, दर्पन····यह मेरी माँ का नाम है····देखो यह कागज (कमण्डल से मैग्जीन निकालकर) इसमें फोटो छपी है····और इसी बंगले का पता दिया हुआ है।

मत्ती : हम कुछ नाहीं जानित महाराज, इहाँ कोई माई-बाप नहीं न।·····

दंडी : सुनो तो····।

मत्ती : हम अउर का सुनी !

दंडी : सुनो तो·····दर्पन मां के पास एक बड़ी-सी कापी रहती थी····उसमें कई चित्र लगे थे····दर्पन का, उनके गुरु जी महाराज····का····मेरा भी चित्र मां ने खींच कर उसी में लगा रखा था····उसी में बहुत-सी बातें भी लिखी हुई ····थीं

मत्ती : महराज, आपका दिमाग तो नाहीं खराब है ! सौ बार काँह दिया कि इहां ऐसा कोई नाहीं रहत।

दंडी : पर यह कैसे हो सकता है ?

मत्ती : तो आप सीधे से नाहीं जावो इहां से ?

दंडी : क्रोध मत करो····मैं यहाँ रुकने के लिए नहीं आया हूँ केवल यहाँ दर्पन से मिलने आया था। मां का पता ले कर····

मत्ती : बस, पता है महारज कि सीधे उसी फाटक से झटप निकल जाइये।

दंडी : सुनो तो····।

मत्ती : बस, बस, बहुत सतसंग हो गया····चलिये····निकलिये··· नाहीं तो अब्बे हम पुलिस कै इतला करब····

दंडी : कल्याण हो तुम्हारा।

[दंडी चला जाता है।]

मत्ती : ····हुँ। आये थे कल्याण करने।

[भीतर से पूर्वी का प्रवेश]

पूर्वी : चला गया।

मत्ती : अउर क्या ? जाते नहीं तो हम····।

पूर्वी : अच्छा किया····। मैंने दूर से ही उसे इधर आते हुए देख था। बाहर सड़क से वह इस बंगले का नम्बर देख रह था।

मत्ती : आप उसे जानती थीं ?

पूर्वी : नहीं-नहीं, मैं क्यों जानूँगी उसे ! कोई सवाल ही नहीं उठता। पर मुझे इन साधू-संन्यासियों से बड़ा डर लगता है।

मत्ती : हाँ-हाँ, ये बड़े खतरनाक होते हैं····ऊपर से हरि का नाम, भीतर से चम्पतराम·····। बडा बक-बक कर रहा था···· वह····पूछता था, यहाँ कोई दर्पण मां है। ?

पूर्वी : हाँ-हाँ, मैं उसकी बात सुन रही थी। अब जाओ····भीतर तुम अपना काम करो।

मत्ती : अब वह यहाँ नहीं आ सकता।

पूर्वी : बहुत अच्छा किया।

[मत्ती का भीतर प्रस्थान। कुछ ही क्षणों बाद पूर्वी तेज़ी से अन्दर जाती है। भीतर से एक कापी लाती है। दरवाज़ा बाहर से बंद कर लेती है।)

पूर्वी : मेरा पीछा करने वाली ! तू नहीं जानती, मैं क्या हूँ। मैं सोचती थी तू खत्म हो गयी है पर तू इस कदर मेरे पीछे लगी है। अपराधी····निर्मम····(कापी को फाड़ने लगती है।) हत्यारी ! तुझे अब जिन्दा नहीं रहने दूँगी। तेरे दर्पण का एक-एक टुकड़ा मैं पीस कर रख दूँगी। मैं हूँ नियंता अपने इस जीवन की। तेरा यह जड़ अस्तित्व अब नहीं रहने दूँगी।

[फटे हुए कागजों और चित्रों के ढेर में आग लगा देती है।

पूर्वी : जा, अपनी इस चिता की आग में भस्म हो जा ! तेरा कोई चिह्न नहीं····कोई स्मृति नहीं, कोई पहचान नहीं।

[इसी क्षण बाहर से सुजान आता है और हतप्रभ खड़ा देखता रह जाता है।]

पूर्वी : सुजान ?

सुजान : भाभी ! यह क्या है ? यह क्या जला रही हैं आप ?

पूर्वी : पुराना कागज !

सुजान : कागज ?

पूर्वी : हाँ, मैं इसे फाड़कर भी फेंक सकती थी। पर फागुन में हवा तेज बहती है, फटे हुए ये कागज चारों और बिखरने लगते हैं।

सुजान : (चुप खड़ा है।)

पूर्वी : इमली की पत्तियाँ देखी हैं न ?

सुजान : हाँ, देखी हैं।

पूर्वी : नन्हीं-नन्हीं टिकुली की तरह इमली की पत्तियाँ, ज़रा-सी हवा बही कि ऊपर से नीचे तक झरने लगती हैं····असंख्य बेशुमार पत्तियाँ। इतनी कि कोई उसके नीचे खड़ा हो जाए तो उसका माथा ढक जाए।

सुजान : लगता है, आप बहुत देर से यहाँ अकेली हैं।

पूर्वी : हाँ, अकेली ही थी, तभी तो ये पुराने कागज़ात मिले···· सोचा इन्हें जलाकर छुट्टी पाऊँ। देखो न, तभी मैंने दरवाज़ा भी बन्द कर लिया था। ताकि फटे हुए कागज़ के टुकड़े घर के अन्दर न उड़ जाएँ।

[कहती हुई बन्द दरवाज़ा खोल देती है।]

पूर्वी : सब जलकर खाक हो गया।····अच्छा किया न ! बोलो न, इस तरह चुप रहना मुझे अच्छा नहीं लगता।

सुजान : क्या बोलूँ ?

पूर्वी : कुछ भी।

सुजान : बिना किसी प्रसंग के ?

पूर्वी : हाँ, प्रसंग अपने-आप बन जायेगा।····देखो अब सब जल चुका न ? अब इस राख में पानी डालना चाहिए। नहीं तो राख भी तो उड़ती है। रुको····।

[तेज़ी से भीतर जाकर पानी ले आती है, राख में डालती है।]

पूर्वी : [हँस पड़ती है।] राख में से आवाज निकलती है। कहावत तुमने सुनी है न, रस्सी जल गई, ऐंठन न गई (हँसती है।) लो, अब ऐंठन भी न रहेगी····राख, मिट्टी हो गयी। अब इसे मिट्टी में मिला दूँगी। रुको····।

[राख को मिट्टी लिए बाहर जाती है, सुजान बढ़कर कुर्सी पर बैठता है। पूर्वी वापस आती है।]

पूर्वी : मिट्टी पलीद कर दी।

[हँस पड़ती है]

सुजान : किसकी ?

पूर्वी : अभी बताती हूँ। पहले यहाँ की कालिख धो लूं न, ताकि कोई धब्बा या निशान न रह जाये।

[धोती है।]

पूर्वी : देखो, अब कोई निशान नहीं रह गया न ?

सुजान : भाभी, तुम कभी-कभी बच्चों की तरह बात करती हो।

पूर्वी : बस, अब हाथ तो धो आऊँ।

[भीतर जाती है। तौलिये से हाथ पोंछती हुई आती है।]

पूर्वी : अब बोलो, मुझे फुर्सत हो गई।····बताओ, क्या कहा था तुमने ?

सुजान : यही कि कभी-कभी तुम बच्चों की तरह बात करती हो।

पूर्वी : कभी-कभी ?

सुजान : हाँ।

पूर्वी : प्रसंगहीन बातें कभी-कभी बहुत अच्छी होती हैं न।····चलो शुरू करो कोई प्रसंगहीन बात····चलो बोलो····।

सुजान : (चुप है।)

पूर्वी : नहीं बोलोगे।····कुछ नहीं आता ? अरे, कुछ भी बोलना शुरू कर दो न····एक चिड़िया थी····एक बिल्ली थी····एक जंगल था·····जंगल में एक राजकुमार आया····· चिड़िया उसके कंधे पर आकर बैठ गई····बोली, मेरे संग खेलो राजकुमार····। जंगल हँसने लगा। बिल्ली रोने लगी। जंगल हँसने लगा और चिड़िया····।

[हँसी की जैसे पूर्वी में धारा फूट जाती है।]

सुजान : भाभी !

[पूर्वी की हँसी एकाएक टूट जाती है।]

पूर्वी : कौन ? इधर कोई रो रहा था क्या ?

सुजान : भाभी !

पूर्वी : मुझे लगा, जैसे मेरे कानों में कोई रो रहा है।

[एक शून्य, विराम छा जाता है।]

पूर्वी : पर यह क्या हुआ ? कागज़-पत्र कहीं जलाये जाते हैं ! और इस तरह कि फर्श गंदा हो जाये ?·····पर इससे क्या ?····बोलो सुजान भइया।

सुजान : क्या बोलूँ ?

पूर्वी : वही कहानी जो मैं तुमसे अभी कह रही थी····जंगल हँसने लगा और जंगल····इसके बाद ? बताओ इसके बाद···· जोड़ो····कल्पना करो।

सुजान : इसके बाद जंगल में आग लग गयी····। और कहानी खत्म हुई।

पूर्वी : शाबाश।····बहुत सुन्दर····जंगल में आग लग गयी, और वह आग लगी कैसे ? उसी चिड़िया ने लगायी, ठीक है न!

सुजान : बिल्कुल ठीक; और इस तरह वह कहानी खत्म हो गयी।

पूर्वी : हाँ कहानी खत्म हो गयी।

सुजान : पर भाभी ! कहानी तो यहाँ से शुरू हुई।

पूर्वी : नहीं ! कैसे ?

सुजान : जंगल जल गया। बिल्ली उसी में मर गयी और चिड़िया वहाँ से उड़कर राजकुमार के पास आ गयी।

पूर्वी : तो····।

मुजान : तो क्या ?····अरे आप इस तरह गंभीर हो गयीं ? आपने कहा—कुछ जोड़ो, कल्पना करो····मैं वही करने लगा। इसमें बात ही क्या है ?

पूर्वी : कहानी खत्म हुई।

[पर्दा]

दूसरा अंक

[वही दृश्य। वही स्थान। संध्या के पाँच बज रहे हैं। पूर्वी मोढ़े पर दुल्हन के सारे वस्त्र पहने, रूपविन्यास किए बैठी है। ममता उसे आभूषणों से सजा रही है।]

ममता : ज़रा देख तो लूँ। कहीं नज़र न लग जाए। सच····· चमत्कार !

पूर्वी : बहुत अच्छी लग रही हूँ ?

ममता : बहुत·····बहुत !

पूर्वी : सारा शृंगार पूरा हो गया न ?

ममता : अभी कहाँ ! अभी तो कई गहने बाकी हैं।

पूर्वी : जल्दी करो ममता, प्लीज़। ममता·····

ममता : (हाथ में आभूषण पहनाती हुई) तुम्हें तो भाभी, इस तरह जल्दी पड़ी है कि जैसे भइयाजी के गले में तुम अभी ही जयमाला डालोगी। अरे, यह तो रिहर्सल है भाभीजी, रिहर्सल ! आज से आठ ही दिन तो रह गए हैं। जयमाल का वह दिन !

पूर्वी : जी करता है कि जयमाल की वह घड़ी इस क्षण जी लूँ।

ममता : तो जी लो न ! भइया जी यूनिवर्सिटी से लौट रहे होंगे। बस, उनके गले में जयमाल डाल देना।

पूर्वी : हाँ हाँ बिल्कुल सही। पर·····लेकिन·····

ममता : (दूसरा गहना पहनाती है।) अरे, कोई चिन्ता नहीं। पिताजी आज गंगाजी की आरती में गए हैं। कहीं सात बजे तक घर लौटेंगे। अभी कुल पाँच बजे हैं।

पूर्वी : पर ब्याह की वह निश्चित तिथि·····वह लग्न····वह····

ममता : बहुत अच्छा लगता है न ?

पूर्वी : बहुत !

[उसी समय भीतर से सुजान का प्रवेश]

सुजान : ओह भाभी, आश्चर्य ! जभी तो मैं कहूँ, यह ममता आज एक बजे से क्या कर रही है।

ममता : देख लिया न !

पूर्वी : सुजान भइया, कैसी लग रही हूँ मैं ?

सुजान : बहुत·····बहुत अच्छी !

पूर्वी : दुल्हन लग रही हूँ न ?

सुजान : यह भी कोई पूछने की बात है !

[पूर्वी उठ खड़ी होती है।]

ममता : अरे, अभी तो दो असली गहने पहनाने को ही रह गए ! भाभी ! बैठो·····बैठो न !

पूर्वी : (बैठती हुई) जल्दी करो, प्लीज़ ! बैठो, सुजान भइया, बैठो !

[सुजान कुर्सी पर बैठता है।]

ममता : क्यों ? जल्दी किस बात की पड़ी है ?

पूर्वी : पता नहीं। न जाने क्यों, मन बड़ा अधीर हो रहा है। इच्छा होती है कि सब जल्दी-जल्दी हो जाए।

ममता : सब जल्दी-जल्दी हो जाए ? (हँस पड़ती है।)

[सुजान को हँसी आ जाती है।]

पूर्वी : तुम हँस क्यों रही हो ? बताओ न, तुम लोग इस तरह हँस क्यों रहे हो ?

सुजान : भाभीजी, यह ममता बड़ी चंट है। आपकी उसी बात पर हँस रही है।

[ममता पूर्वी के माथे पर आभूषण पहनाती है।]

पूर्वी मेरी किस बात पर ?

ममता वही·····कि सब जल्दी-जल्दी हो जाए।

[फिर हँसने लगती है।]

सुजान : ममता, भाभी को जल्दी तैयार कर न।

ममता : लो, अब इसको भी जल्दी पड़ गई।

सुजान : क्यों नहीं ?

ममता : भाभीजी, सब तो हो गया; अब बाकी बचा यह नथ। बोलो, यह कैसे पहनाऊँ ?

सुजान : क्यों ? क्या बात है ?

ममता : अरे, नाक भी तो नहीं छिदी है। जस कान, वैसे नाक।

[हँस पड़ती है।]

सुजान : क्या हँसती है बेमतलब ! अरे, भाभी जी के खानदान में नाक-कान छिदाने की परम्परा न होगी।

पूर्वी : बिल्कुल सही। हम लोग नेपाली क्षत्री हैं।

ममता : पर यह नथ तो दुल्हन का असली गहना है।

सुजान : अरे हटाओ ! मेरी भाभी अब पूरी दुल्हन है·····अब किसी तरह की कसर नहीं है।

पूर्वी : सच सुजान भइया ? (उठ खड़ी होती है।) मैं पूरी दुल्हन हो गई हूँ ?

सुजान : हाँ, हाँ, बिलकुल·····। ममता, जाओ, आईना लाओ न। हद हो गई·····बिना आईने के·····

पूर्वी : नहीं, नहीं·····। ममता, नहीं। आईना नहीं।

ममता : मैं तो पहले से ही कर रही थी, पर भाभीजी आईना देखना ही नहीं चाहतीं।

सुजान : अरे तुम दौड़ कर लाओ तो सही। जाओ·····

[ममता भीतर जाती है।]

पूर्वी : नहीं सुजान भइया ! मैं तुम से हाथ जोड़ती हूँ मैं आईना बिल्कुल नहीं देखती। मेरा सिर चक्कर खाने लगता है। तुमने मुझे देख लिया। मैं दुल्हन हूँ·····बस·····!

सुजान : तुम अपने को नहीं देखोगी कि तुम कैसी सुन्दर दुल्हन हो ?

पूर्वी : नहीं खुद देखकर क्या होगा। तुमने देख लिया तो मैंने देख लिया।

[ममता का प्रवेश]

ममता : यह आईना लो भाभी।·····अरे, ज़रा-सा देख ही लो।

पूर्वी : नहीं, नहीं।

ममता : मेरी बात नहीं मानोगी भाभी ? ज़रा भी नहीं ?

सुजान : अच्छा, ज़रा-सा देख ही लीजिए।

[पूर्वी अईना ले लेती है।]

पूर्वी : अपना सौन्दर्य देखना कौन न चाहेगा ! और फिर मेरी यह दुल्हन-छवि। (आईने में अपने को देखने लगती है।) यह मैं ?·····हरिपदम····दिले !

[उसके हाथ से आईना छूटकर फर्श पर गिर जाता है। पूर्वी ने हथेलियों में अपना मुँह गड़ा रखा है। ममता और सुजान दोनों उसको सम्हालते हैं।]

सुजान : भाभी !

ममता : भाभीजी !

[पूर्वी चुपचाप भीतर जाती है, ममता साथ में है कुछ क्षण के बाद सुजान फर्श से आईना उठाता है।]

सुजान : दर्पन टूट गया।

[बढ़कर आईने को मेज़ पर रख देता है। कुर्सी पर बैठकर वहीं साप्ताहिक पत्र पढ़ने लगता है। भीतर से ममता का प्रवेश।]

ममता : सुजान भइया, क्षमा·····। मुझे विश्वास नहीं था कि सचमुच आईना देखते ही इस तरह भाभीजी·····

सुजान : कैसी तबीयत है अब ?

ममता : ठीक है।

सुजान : भाभीजी ने तुमसे कहा था न कि आईना देखकर उनका सिर घूमने लगता है ?

ममता : मुझे इतना विश्वास नहीं था।

[भीतर से मत्ती का प्रवेश]

मत्ती : ममता दीदी, चलिए चौके में। मैं बाज़ार जा रहा हूँ।

ममता : जाओ।

[मत्ती का प्रस्थान]

सुजान : तुमने पढ़ लिया न भाभीजी का यह लेख ?

ममता : हाँ, पर अपनी समझ में कुछ नहीं आया।

[ममता भीतर चली जाती है। सुजान फिर वही पत्रिका पढ़ने लगता है। भीतर से पूर्वी का प्रवेश। साधारण वस्त्रों में अलंकार-रहित।]

सुजान : आइए भाभीजी। बैठिए। आइए न तबीयत बिलकुल ठीक है न ?

पूर्वी : हाँ।

सुजान : आप बैठिए, मैं यहाँ आईना यह से हटा ही दूँ। (उठता है) इसे तो अब फेंका भी जा सकता है।

पूर्वी : नहीं, नहीं·····बैठो तुम। ऐसी कोई बात नहीं। मैं हर क्षण अपने को मजबूत करती चलती हूँ। कहाँ वह जड़ आईना और कहाँ मैं !

सुजान : भाभीजी ! यही तो मैं तब से सोच रहा था।.....मुझे आपकी अपार शक्ति में विश्वास है। मेरा यह जीवन.... तब से मुझ पर आज तक 'फिट' का दौरा नहीं हुआ। और मुझे विश्वास हो गया कि अब मैं रोगमुक्त हूँ। आपका यह लेख.....इसमें आपका यह विचार। और कल की वह घटना.....।

पूर्वी : कौन-सी ?

सुजान : दुर्गा कुंड से आगे सड़क के किनारे तपेदिक के उस मरीज़ की घटना.....जिसे असाध्य समझ कर अस्पताल से निकाल दिया गया था। उसका वह तेज़ बुखार.....खून की उल्टी। किस तरह बढ़कर आपने उसके सिर को थाम लिया था। आपकी वह दवा.....जिसे पीते ही वह रोगी किस तरह से शान्त दीखने लगा था। (रुककर) कहाँ वह शक्ति, कहाँ यह मुख देखने का आईना ?

पूर्वी : पर सुजान भइया, सच बात यह है कि मैं अपने-आप को देखना नहीं चाहती। मैं चाहती हूँ कि मैं अपनी आँखों से ओझल हो जाऊँ। मैं सिर्फ वही रहूँ जिसे तुम सबने इतना प्यार, इतना विश्वास दिया है।

[उसी समय पृष्ठ भूमि से हरिपदम की आवाज़ सुनाई पड़ती है। वह किसी को जाने के लिये कह रहा है। सुजान बाईं ओर बढ़कर बाहर देखता है।]

सुजान : (लौटकर) भाभीजी, वही तपेदिक का मरीज़ गेट के भीतर घुस आया है।

पूर्वी : भाग गया कि नहीं ?

[स्वयं बाहर चली जाती है। हरिपदम के साथ आती है।]

हरिपदम : (प्रवेश करते हुए) यह सब तो मुझे पता नहीं था। उसी ने किसी तरह यह बताया कि.....

पूर्वी : पर कैसे ? मुझे ताज्जुब है ?

हरिपदम : ताज्जुब की क्या बात....उसने मुझे बताया कि वह धीरे-धीरे रानी बहू.....(यानी तुम्हारे) के पीछे-पीछे चलता रहा और यह घर-ठिकाना उसने देख लिया।

पूर्वी : तो ?

हरिपदम : मैंने उसे गेट से बाहर करते हुए कहा कि तुम अस्पताल में जाओ।

सुजान : पर अस्पताल से तो वह निकाल दिया गया है।

पूर्वी : तो इसके लिए मैं क्या करूँ ? मैं उसके लिए ज़िम्मेदार नहीं हूँ।

[भीतर से सहसा ममता का प्रवेश।]

ममता : भइयाजी। हार्डलक। आप ज़रा-सा लेट हो गए, वरना यहाँ दुल्हन बिलकुल तैयार थी।

हरिपदम : (पूर्वी से) अच्छा ?

पूर्वी : पता नहीं।

[यह कहती हुई पूर्वी लजाकर भीतर भाग जाती है।]

ममता : भइयाजी, आज रिहर्सल का डिनर।

हरिपदम : आज से आठवें दिन।

सुजान : नहीं भाई साहब, बड़ी मेहनत की है ममता ने। एक बजे से पाँच बजे तक यहाँ बैठी भाभी को सजा रही थी। दुल्हन के वही कपड़े। सारे साज-शृंगार।

हरिपदम : (पुकारता है) दिले !.....दिले !

[पुकारता हुआ भीतर दौड़ता है। पीछे-पीछे ममता जाती है। सुजान फिर वहीं कुर्सी पर बैठता है। पत्रिका पढ़ने लगता है। कुछ ही क्षणों बाद बाहर से पिताजी का प्रवेश।]

पिताजी : और लोग कहाँ हैं ?

सुजान : जी, भीतर हैं।

पिताजी : बाहर सड़क पर एक मरीज़ पड़ा है, उसे पूर्वी का नाम कैसे मालूम ?

सुजान : अजीब आदमी है। कल भाभी ने दयावश····पागल कहीं का।

पिताजी : ओह! तुम्हें उस मरीज़ पर गुस्सा आ रहा है और मुझे हँसी आ रही है।

सुजान : भाभी जी का स्वभाव ही ऐसा है। वह किसी का दुःख नहीं सह पातीं।

पिताजी : आखिर ऐसा क्यों है ?

सुजान : यह उनकी प्रकृति है।

पिताजी : ऐसी प्रकृति की लड़की के लिए ब्याह, घर, गृहस्थी का कुछ मेल नहीं खाता।

[भीतर से पूर्वी आती है।]

पिताजी : बेटी बंगले के बाहर सड़क पर एक मरीज़ तुझे तलाश कर रहा था।

पूर्वी : आपने क्या कहा उससे ?

पिताजी : मैं क्या कहता ?

पूर्वी : पागल है वह मरीज़।

पिताजी : इस तरह से तो सभी पागल हैं बेटी।

पूर्वी : पता नहीं।

[सहसा भीतर से हरिपदम का प्रवेश]

हरिपदम : क्या है पिताजी ?

पिताजी : बाहर सड़क पर पूर्वी बेटी को एक मरीज़ पूछ रहा था।

हरिपदम : आपसे भी वह मिला था ? मैंने तो उसे भगा दिया था।

पिताजी : हाँ, वह वापस जा रहा था।

पूर्वी : अब ऐसी गलती मैं कभी न करूँगी।

पिताजी : क्यों नहीं करोगी····और यह कोई गलती नहीं है। तुम्हारे इसी स्वभाव ने तुम्हें हरिपदम से मिलाया था।

पूर्वी : (चुप पिताजी को देखती रह जाती है।)

हरिपदम : आओ, चलो, घूम आयें।

पूर्वी : नहीं, नहीं, मैं बाहर नहीं जाऊँगी।

पिताजी : (हँस पड़ते हैं) डरो नहीं। बाहर वहाँ मरीज़ नहीं खड़ा होगा।

हरिपदम : हाँ, चलो न !

पूर्वी : सुजान भइया, जाओ तुम अपने भइया के संग।

सुजान : मैं !····आप की जगह मैं ?

हरिपदम : आओ सुजान, ब्याह का कार्ड छप गया होगा। चलो, उसे ले आयें।

सुजान : भाभी जी, चलिये न !

पिताजी : तुम लोग क्यों ज़िद्द कर रहे हो ? जब तक ब्याह न हो जाय, बहू का अब बाहर घूमना ठीक नहीं है। जाओ तुम लोग !

[हरिपदम और सुजान का बाहर प्रस्थान।]

पिताजी : सुजान की तबीयत अब ठीक लग रही है। मुझे इतना विश्वास नहीं था कि तुम इसे स्वस्थ कर लोगी।

पूर्वी : सब आपका आशीर्वाद है पिताजी !

पिताजी : तुम में बहुत-बहुत गुण हैं। सोचता हूँ, इतने सब गुण तुम्हें कहाँ से मिले !

पूर्वी : (चुप है।)

पिताजी : तुम्हारी दर्पन बहिन की कोई चिट्ठी आई ?

पूर्वी : वह बहुत कम चिट्ठी-पत्री लिखती है। कहीं साल-दो साल में एक बार····।

पिताजी : हाँ ठीक भी है, वह बौद्ध भिक्षुणी है, उसे हमारी इस दुनिया से क्या लगाव ?

पूर्वी : लेकिन पिताजी, जो इंसान को इतनी सुन्दर दुनिया से काटकर अलग कर दे, वह कैसा धर्म है ?

पिताजी : धर्म कर्त्तव्य का ही नाम है।·····और जिसे एक कर्तव्य मिल गया, वह और के लिए लालच नहीं कर सकता।

पूर्वी : लालच ?

पिताजी : हाँ; और बाकी लालच ही है उसके लिए।

पूर्वी : (चुप रह जाती है।)

पिताजी : मैं सोचता हूँ, तुम्हारी वह दर्पन बहिन बिल्कुल सच है।

पूर्वी : पर सच क्या होता है ?

पिताजी : इसे तुम ज्यादा समझ सकती हो। तुम इतनी पढ़ी-लिखी हो, समझदार हो। सोचने-समझने वाली हो। तुम मुझे बताओ न, कि सच होता क्या है ?

पूर्वी : मैं सोचती हूँ, सच कुछ नहीं होता।

पिताजी : सच कुछ नहीं होता ? फिर तुम यहाँ कैसे खड़ी हो ?

पूर्वी : मैं·····! (चुप रह जाती है।)

पिताजी : तुम झूठ हो क्या ?·····नहीं, मैं यह नहीं मान सकता कि तुम सच नहीं हो।·····तुम सच हो, तभी तुममें इतना प्रभाव है।

पूर्वी : पिताजी····

पिताजी : हाँ, हाँ, बोलो !

पूर्वी : सोचती हूँ·····

पिताजी : हाँ, हाँ, बोलो, क्या सोचती हो ?

पूर्वी : झूठ में भी प्रभाव होता है·····कभी-कभी सच से कहीं ज्यादा प्रभाव।

पिताजी : (एकटक पूर्वी को देखते हैं।)

पूर्वी : (जैसे काँप जाती है।) मेरा मतलब था कि·····पिताजी···· मेरा मतलब·····।

पिताजी : हाँ, तुम्हारा मतलब····!

पूर्वी : मेरा मतलब कि····

पिताजी : हाँ, हाँ, तुम्हारा मतएब कि एक सच होता है, एक कल्पना होती है, और एक झूठ होता है।

पूर्वी : हाँ, हाँ····हाँ····।

पिताजी : (चुप हैं।)

पूर्वी : जी, पिताजी····कल्पना नहीं, स्वप्न।

पिताजी : स्वप्न ?

[पिताजी हँस पड़ते हैं। पूर्वी भी हँसना चाहती है। और तेजी से अन्दर भाग जाती है। पिताजी वहीं कुर्सी पर बैठकर मेज पर पड़ी वही पत्रिका देखने लगते हैं। कुछ ही क्षणों बाद उसी दंडी का पुनः प्रवेश।]

दंडी : (प्रवेश कर) कल्याण हो।

पिताजी : कौन ? कौन हैं आप ?

दंडी : मैं दंडी हूँ, अशान्त मत होइए। यहाँ कोई पूर्वी माँ रहती हैं ?

पिताजी : पूर्वी माँ ?

दंडी : हाँ इसी बंगले का पता, नम्बर तेरह, नई बस्ती, भदैनी, वाराणसी-पाँच है न ?

पिताजी : जी हाँ, नम्बर तो ठीक है।

दंडी : फिर तो मैं ठीक जगह आया हूँ। (उसी साप्ताहिक की प्रति दिखाता हुआ) यह देखिए, लेख के बीच में यह मेरी माँ का ही तो चित्र है ?

[पिताजी उठकर दंडी के पास आ जाते हैं।]

पिताजी : यह चित्र तो पूर्वी का है। यह वही पत्रिका भी है, जिसमें पूर्वी का लेख आया है।.....जी, आइए, बैठिए।

दंडी : धन्यवाद, मैं बैठूँगा नहीं। मैं यहाँ एक बार पहले भी आया था। पर आपके नौकर ने कहा, यहाँ कोई माँ नहीं रहती।

पिताजी : ठीक है, यहाँ ऐसा कोई नहीं है। यहाँ एक लड़की पूर्वी जरूर है, पर वह तो यहाँ सरकारी नौकरी करती है। आज से आठवें दिन उसका ब्याह होने जा रहा है।

दंडी : नहीं, नहीं। मेरी माँ बौद्ध भिक्षुणी है।

पिताजी : बौद्ध भिक्षुणी ?

दंडी : जी हाँ, मैं अपनी इसी माँ के संग चार महीने ऋषिकेश में रह चुका हूँ।

पिताजी : क्या नाम था आपकी माँ का ?

दंडी : दर्पन।

पिताजी : बिलकुल यही मुख था दर्पन का ?

दंडी : जी हाँ....बिल्कुल यही मुख।

पिताजी : कहाँ की रहने वाली थी वह ?

दंडी : शायद दार्जिलिंग की.....

पिताजी : ओह.....अब समझा ! यह पूर्वी वह बौद्ध भिक्षुणी नहीं है, वह बौद्ध भिक्षुणी इसी की बहिन है। उसका नाम दर्पन है।

पिताजी : जी हाँ, वह दर्पन ही वहाँ दार्जिलिंग के बौद्ध मठ में बौद्ध भिक्षुणी है। यह पूर्वी बताती भी थी कि वह दर्पन एक बार ऋषिकेश आई थी। हरिद्वार भी गई थी वह।

दंडी : जी हाँ, सही है। मेरी वह माँ घूमती हुई ही मुझे वहाँ मिली थीं।

पिताजी : तो वही है, दर्पन नाम है उसका।

दंडी : पर यह चित्र तो मेरी उस माँ के ही मुख से मिलता है।

पिताजी : बताया न, दोनों सगी बहनें हैं।

दंडी : ओहो ! तभी मुझे भ्रम हुआ। अच्छा कष्ट के लिए क्षमा कीजिएगा। तब से आज कई वर्ष हुए, मैं अपनी उसी माँ को ढूँढ़ रहा हूँ।

पिताजी : आप सीधे दार्जिलिंग क्यों नहीं गए ? वहाँ का पता है, लामा घुरा, गुम्मा, दार्जिलिंग।

दंडी : धन्यवाद, मुझे यह पता अब भूलेगा नहीं। दर्पन माँ, लामा घुरा, गुम्मा, दार्जिलिंग। कल्याण हो आपका !

[जाने लगता है।]

पिताजी : सुनिए, यदि आपको पूर्वी से मिलने की इच्छा हो तो मैं उसे बुला देता हूँ। आप उससे मिल तो लीजिए।

दंडी : जी नहीं, कोई आवश्यकता नहीं। मैं केवल अपनी उस माँ को ही ढूँढ़ रहा हूँ। केवल माँ को.....

पिताजी : आप उस दर्पन को इस तरह क्यों ढूँढ़ रहे हैं महाराज ?

दंडी : दर्पन में ही मैंने उस ईश्वर का साक्षात्कार किया है।

पिताजी : ईश्वर का साक्षात्कार ?

दंडी : यह संसार क्या है। उस ईश्वर का ही तो दर्पन है। इसमें जो चाहे, जब चाहे, अपना दर्शन पा सकता है।

पिताजी : अपना या उस ईश्वर का ?

दंडी : चाहे अपना, चाहे ईश्वर का। दोनों एक ही वस्तु हैं। जीतो ब्रह्मैव नापरः ·····सर्वं खल्विदं ब्रह्म····तत्त्वमसि। यह समस्त भासमान जगत् वास्तव में ब्रह्म ही है····और वही ब्रह्म तू है।

पिताजी : आपने उस दर्पन में यह रोशनी किस तरह देखी ?

दंडी : क्या तुम वास्तव में जानना चाहते हो ?

पिताजी : हाँ महाराज।

दंडी : तुम्हें ईश्वर में विश्वास है ?

पिताजी : जी महाराज !

दंडी : मैं दंडी नारायण हरद्वार क्षेत्र का एक संन्यासी था। एक दिन दंडियों ने देखा कि मेरे हाथ-पैर और मुँह पर कोढ़ की बीमारी उभर आई है। मेरे गुरु महाराज ने एक दिन मुझे कोढ़ी कहकर अपने यहाँ से निकाल दिया। फिर मैं नास्तिक होकर धर्म और ईश्वर को गालियाँ देता हुआ हरद्वार में हर की पैड़ी पर घूमने लगा। पता नहीं, मैंने अपने गुरु की हत्या क्यों नहीं की ! (रुककर) तभी एक दिन आधी रात के समय जब मैं हर की पैड़ी के उस पार अपने घावों से पड़ा कराह रहा था, उसी समय न जाने कहाँ से उस माँ ने आकर मेरे अभिशप्त माथे पर अपना हाथ रख दिया। मलयगिरि-के चन्दन-सा वह हाथ ! माँ ने मुझे, अपदार्थ कोढ़ी को, अपने अंक से लगा लिया। मुझे याद है, क्वार के वे दिन थे। हिमालय से उस क्षण न जाने कितनी सुगन्ध वायु में फैल गई थी।

क्वार से लेकर फागुन तक उन्हीं छः महीनों में माँ के स्पर्श से, आशीष से, मेरे सारे घाव पुर गए। मैं नीरोग ! मेरा रक्त शुद्ध ! और एक दिन मेरी उस माँ ने मेरे सामने एक दर्पन रख दिया। मैंने उसमें अपना वह स्वस्थ मुख देखा, फिर मैंने माँ का वह मुख निहारा, ईश्वर···· ईश्वर·····ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वस् सर्वं खल्विदं ब्रह्म तत्त्वमसि।

[दंडी की आँखें बन्द हैं। वह मूर्तिवत् खड़ा है।]

पिताजी : महाराज ! दंडी महाराज !····महाराज····

दंडी : माँ····माँ।

पिताजी : फिर ? फिर क्या हुआ महाराज ?

दंडी : तभी वह माँ न जाने कहाँ अन्तर्धान हो गई। मैं तभी से अपनी उस माँ को ढूँढ़ रहा हूँ।

पिताजी : आज कितने वर्ष हो गए ?

दंडी : इसी फागुन में चार वर्ष पूरे हो जाएँगे।

पिताजी : तुम्हारी वह माँ बौद्ध भिक्षुणी थी न ?

दंडी : हाँ, बौद्ध भिक्षुणी थी। इतना ही बताया था माँ ने।

पिताजी : फिर तो निश्चय ही वह दर्पन है। पूर्वी की बौद्ध भिक्षुणी बहिन।

दंडी : धन्यवाद ! मैं वहीं माँ के पास जा रहा हूँ। दर्पन माँ, लामा घुरा, गुम्मा, दार्जिलिंग।

पिताजी : प्रणाम महाराज !

दंडी : तत्त्वमसि। वही ब्रह्म तू है ! वही ब्रह्म तू है ! माँ·····

[दंडी का प्रस्थान। पिताजी मूर्तिवत् उसी दिशा में देखते रह जाते हैं। भीतर से पूर्वी का प्रवेश।]

पूर्वी : पिताजी····पिताजी ! आप क्या देख रहे हैं इस तरह ?

पिताजी : पूर्वी !

पूर्वी : जी !

पिताजी : यहाँ अभी एक दंडी आया था। तुम किसी दंडी को जानती हो क्या ?

[पृष्ठभूमि से सहसा उसी दंडी की आवाज़ आती है।]

आवाज़ : माँ ! माँ !

[बाहर से भागता हुआ वही दंडी आता है, और दौड़कर पूर्वी के चरणों में गिर पड़ता है। पूर्वी उसी समय पीछे हट जाती है। बाहर से हरिपदम और सुजान आते हैं। सब आश्चर्य-चकित खड़े रह जाते हैं।]

दंडी : माँ ! माँ !

पूर्वी : कौन हो तुम ?

दंडी : तुम्हारा वही पुत्र माँ !

पूर्वी : कैसा पुत्र ? कौन हो तुम?

दंडी : माँ ! माँ !

पिताजी : ये पूर्वी को वही दर्पन समझ रहे हैं।

हरिपदम : दर्पन ?

पिताजी : हाँ, उसी साप्ताहिकी में छपे हुए लेख के साथ जो पूर्वी का चित्र और पता था न, उसी के आधार से ये यहाँ आए हैं।

सुजान : ओ हो, तो ये पूर्वी भाभी को दर्पन समझ कर यहाँ आए हैं। खूब ! महाराज, यह मेरी भाभी हैं, यह दर्पन नहीं।

दंडी : आप वह माँ नहीं हैं क्या ?

पूर्वी : नहीं।

हरिपदम : महाराज, आप कैसी बातें कर रहे हैं ?

दंडी : हे ईश्वर, मेरी इन आँखों को यह धोखा कैसे हो सकता है ?

हरिपदम : क्योंकि दोनों सगी बहिनें जो हैं।

दंडी : माँ, आपने हरद्वार में हर की पैड़ी के उस पार मुझे नहीं उठाया था····जब मैं मृत्यु के मुख में पड़ा कराह रहा था और आपने मुझे····

पूर्वी : नहीं, नहीं, वह दर्पन रही होगी; मुझसे तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं। वह मैं नहीं थी। तुम जाओ यहाँ से। मेरा नाम पूर्वी है। वह दर्पन थी—मेरी बहिन····

हरिपदम : दंडी, तुम चले जाओ यहाँ से।

सुजान : दंडी होकर तुम भ्रम का इतना बड़ा दोष फैलाते हो ?

दंडी : माँ, मेरे इस दोष का मूल क्या है ?

हरिपदम : तुम किसे बार-बार माँ कह रहे हो ?

दंडी : मैं अपनी उसी दर्पन माँ से कह रहा हूँ। माँ, मेरे इस भ्रम-दोष का कारण क्या है ? ओह ! याद आया, माँ, तुमने मुझसे एक बार कहा था—अपने से अतिरिक्त दूसरा समझना ही सारे दोष का मूल है।

पिताजी : और भय का मूल क्या है महाराज ?

दंडी : द्वितीयाद्वि‌भयं भवति····भय सदा दूसरे से होता है।

पूर्वी : दिले। इसे दूर करो मेरे सामने से। धूर्त·····पाखंडी····

सुजान : (आवेश में) दंडी। निकल जाओ तुम यहाँ से, चले जाओ यहाँ से सीधे।

पूर्वी : इस दंडी को पिताजी ने ही यहाँ बुलाया है।

हरिपदम : क्यों पिता जी ?

पिताजी : मैं सोच रहा था कि तुम लोग यही कहोगे।

हरिपदम : क्या यह झूठ है ?

सुजान : दंडी, तू यहाँ से जाता है कि नही ?

[अपनी बैसाखी उठाकर दंडी को मारने दौडता है। पूर्वी दौड़कर सुजान को पकड़ लेती है।]

दंडी : (हाथ उठाकर कहता है।)
यत्परब्रह्म सर्वात्मा
विश्वस्यायतनं महत्।
सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं नित्यं
स त्वमेव !
स त्वमेव ! !

[दंडी का प्रस्थान। पूर्वी मूर्तिवत् खड़ी है।]

पिताजी : तो तुम सबका विश्वास है कि इस दंडी को यहाँ मैंने बुलाया था।

हरिपदम : फिर यह दंडी इस तरह यहाँ क्यों आया ?

सुजान : और किस असभ्यता से यहाँ खड़ा रहा ?

पिताजी : ठीक है, दंडी ने सही बात कही थी; अपने से अतिरिक्त दूसरा समझना ही सारे दोष का मूल है।

[भीतर से मत्ती का प्रवेश]

मत्ती : चलिए साहब, आपका भोजन ठंडा हो रहा है।

पिताजी : चलो।

[तेजी से भीतर प्रस्थान]

हरिपदम : बैठो दिले।

[पूर्वी मूर्तिवत् उसी मोढ़े पर बैठ जाती है।]

हरिपदम : अच्छा, एक बात पूछूँ ? पूछूं न ?

पूर्वी : हाँ, हाँ, पूछो !

हरिपदम : कल्पना करो, यदि तुम ही वह दर्पन होतीं तो ?

पूर्वी : (चुप है।)

हरिपदम : मेरा मतलब, तुम मुझे त्याग कर चली जातीं न ?

पूर्वी : यह प्रश्न····

हरिपदम : हाँ, केवल प्रश्न।

पूर्वी : कोई और प्रश्न करो न !

हरिपदम : कल्पना करो दिले ! यदि यह तुम वही दर्पन होतीं तो मैं क्या होता ?

पूर्वी : वही श्रेयस्कर झूठ।

हरिपदम : झूठ !

पूर्वी : हाँ, वही झूठ।

हरिपदम : तो बौद्ध धर्म क्या है ?

पूर्वी : पता नहीं।

हरिपदम : बोधिसत्त्व क्या है ?

पूर्वी : पता नहीं।

हरिपदम : उस शास्ता ने क्या कहा था ?

पूर्वी : नहीं जानती।

हरिपदम : सत्य और अहिंसा ?

[पूर्वी और हरिपदम एकटक परस्पर देखते रह जाते हैं।]

हरिपदम : सत्य क्या है ?

पूर्वी : कुछ नहीं, यही सत्य है शायद।

हरिपदम : शायद····शायद क्यों ?

पूर्वी : अजब बात है दिले; जब तक हममें कोई विश्वास पूर्ण होने को होता है, सहसा तभी कोई उसे झठला देती है।

हरिपदम : वह कौन है ?

पूर्वी : वह एक नहीं है कि उसे नाम दिया जाय। वह इतना आसान भी नहीं है कि सहज पकड़ में आए।

[उसी क्षण बाहर से उसी तपेदिक के मरीज की कराह-भरी आवाज आती है।]

आवाज : आह !····माँ····माँ····!

हरिपदम : कौन ? फिर तू यहाँ आ गया ?

[आवेश में बाहर मरीज पर दौड़ता है। मरीज चिल्लाता हुआ मंच पर चारों ओर भागता है। हरिपदम उसक, पीछा कर रहा है। मरीज लड़खड़ा कर एक ओर गिर पड़ता है।]

पूर्वी : नहीं, नहीं····छोड़ दो इसे····छोड़ दो ! छूना नहीं····· उसका रोग असाध्य है।

[भीतर से सुजान आता है।]

सुजान : यह यहाँ तक आ गया ?

पूर्वी : हाँ, यह यहाँ तक आ गया।

[बढ़कर मरीज को सहारा देती है। मरीज बाहर जाता है।]

पूर्वी : जीवित रहने का यह मोह कितना दर्दनाक है !

सुजान : बेशर्म भी है।

[पूर्वी को हँसी आ जाती है।]

पूर्वी : बेशर्म····निर्लज्ज।

हरिपदम : इतनी हँसी किस पर·····?

पूर्वी : किस पर ?

[एक क्षण के लिए सन्नाटा छा जाता है।]

सुजान : भाभी ने आज जो दुल्हन का शृंगार किया था।

पूर्वी : वह ऐसा था कि····ऐसा कि····।

हरिपदम : काश, मैं भी उसी वक्त आ जाता।

पूर्वी : मैंने आज दुल्हन का शृंगार किया था ?

सुजान : अरे, आप भूल भी गयीं क्या ?

पूर्वी : हाँ, मैंने वह शृंगार किया था।

सुजान : आज आप बहुत थक गई हैं।

पूर्वी : नहीं तो।

हरिपदम : नहीं तो····तुम उदास भी हो।····क्यों ?

पूर्वी : मुझसे अब और प्रश्न मत करो दिले !

[हरिपदम चुप रह जाता है।]

पूर्वी : कोई और मुझ से चाहे जो प्रश्न कर ले····किन्तु तुम जब मुझसे प्रश्न करते हो, मैं····।

[अपने को संभाल ले जाती है।]

हरिपदम : एक बात बताऊँ। दार्जिलिंग में उसी बौद्ध मठ के पते से मैंने दर्पन को एक पत्र भेजा था।

पूर्वी : पत्र भेजा था ! तुमने····? दर्पन के नाम····?

हरिपदम पर उसका अब तक कोई उत्तर नहीं आया।

पूर्वी : दर्पन !

हरिपदम : पूर्वी····दिले····!

पूर्वी : मेरा नाम लेकर मुझे मत पुकारो दिले।····आओ, चलो, भीतर चलें।····आओ····घर में चलो न !

सुजान : मेरा ख्याल है भाभी, आप भइया के संग कहीं बाहर टहल आइए। मन बहल जाएगा।

पूर्वी : मन !

हरिपदम : हाँ चलो. कहीं टहल आएँ। आओ, देर मत करो।

पूर्वी : देर ?

हरिपदम : हाँ, जाओ, झट तैयार होकर आ जाओ।

पूर्वी : पर अब तो बहुत देर हो गई है।

सुजान : कोई देर नहीं हुई है भाभी।

[पूर्वी अन्दर चली जाती है।]

हरिपदम : सुजान, मुझे आज अजीब लग रहा है····लगता है, मैं कोई स्वप्न देख रहा हूँ।

सुजान : स्वप्न !

हरिपदम : हाँ, एक आश्चर्यजनक स्वप्न !

सुजान : (चुप है।)

हरिपदम : वह तपेदिक का मरीज यहाँ तक भागा चला आया था। कैसी दर्दनाक हालत थी उसकी !

सुजान : भाभी ने ही उसे देखा था।

हरिपदम : प्यासा चारों ओर जल ही देखता है। (सहसा) सुजान, इधर आओ, वह देखो·····वहाँ कोई घूम रहा है क्या ?

सुजान : नहीं तो।

हरिपदम : वह देखो····तपेदिक का वह मरीज किसी से रो-रोकर बातें कर रहा है।

सुजान : देखता हूँ मैं।

हरिपदम : लगता है, वह दंडी यहाँ से गया नहीं। मरीज के सामने शायद वही खड़ा है।

सुजान : मैं देखता हूँ।

हरिपदम : नहीं, नहीं, तुम मत जाओ। तुम यहीं मेरे संग रहो।

सुजान : मैं अभी आया।

[सुजान चला जाता है। हरिपदम चुपचाप खड़ा है। सहसा दायीं ओर से एक आदमी प्रकट होता है।]

हरिपदम : कौन ?·····कौन हैं आप ?

आदमी : क्षमा कीजिएगा। मुझे रास्ता नहीं मालूम था····मैं इधर से चला आया।

हरिपदम : कहाँ जाना है तुम्हें ?

आदमी : यहीं····इसी जगह।

हरिपदम : कौन हो तुम ?

आदमी : आपका नाम हरिपदम है ? आपने दार्जिलिंग के बौद्ध मठ को यह चिट्ठी लिखी थी ?

[चिट्ठी निकाल कर दिखाता है।]

हरिपदम : हाँ, दर्पन के नाम।

आदमी : पर दर्पन वहाँ नहीं है।

हरिपदम : कब से ?

आदमी : चार-पाँच साल हो गए होंगे।····तब से बराबर दर्पन की खोज चल रही है। आपने यह चिट्ठी कैसे लिखी थी ? दर्पन को आप जानते हैं क्या ?

हरिपदम : दर्पन की छोटी बहिन पूर्वी है·····।

आदमी : पूर्वी ! छोटी बहिन ! दर्पन की कोई बहिन नहीं है।

हरिपदम : तुम्हें क्या पता ?

आदमी : मुझे सब पता है। मैं बौद्ध मठ का सबसे पुराना कर्मचारी

हूँ। दर्पन जब बौद्ध मठ को दान की गई थी, मैं तब से उसे जानता हूँ।

हरिपदम : झूठ है यह। तुम कुछ नहीं जानते। चले जाओ यहाँ से।

[उसी क्षण भीतर से बनारसी साड़ी में शृंगारयुक्त पूर्वी आती है। आदमी को देखते ही वह चीख पड़ती है और भीतर भागती है।]

आदमी : यही दर्पन है !

हरिपदम : नहीं, यह पूर्वी है।

आदमी : यह कैसे हो सकता है ?

हरिपदम : तुम निकल जाओ यहाँ से।

आदमी : दर्पन के बिना बौद्ध मठ का सारा काम ठप्प पड़ा है····मठ का अस्पताल उजड़ रहा है····आप नहीं जानते, दर्पन के बिना वहाँ····।

हरिपदम : जाते हो कि नहीं तुम यहाँ से ?

[आदमी को बरबस बाहर निकाल देता है। भीतर से पिताजी और ममता का प्रवेश।]

पिताजी : यह क्या हो गया यहाँ ?

ममता : भाभी ने कमरे का दरवाज़ा भीतर से बन्द कर रखा है।

पिताजी : जाओ, पुकारो उसे। कमरे के भीतर पता नहीं····:

[हरिपदम भीतर भागता है। पीछे-पीछे पिताजी जाते हैं।]

ममता : (बाहर देखती हुई) सुजान भइया। जल्दी आइए····।

[सुजान का प्रवेश]

सुजान : क्या है····क्या हुआ ?

ममता : भाभीजी ने भीतर से अपना कमरा बन्द कर रखा है। बाहर से वह चीखती हुई अन्दर भागी थीं।

सुजान : क्यों ? क्या बात हुई ? भाई साहब कहाँ हैं ?

[सुजान के पीछे-पीछे ममता भी अन्दर चली जाती है। क्षण भर बाद भीतर से हरिपदम का प्रवेश। मौन स्थिर सुजान जाता है।]

सुजान : यह क्या हुआ ?

हरिपदम : पता नहीं।

सुजान : यहाँ कौन आया था ?

हरिपदम : एक आदमी।

सुजान : एक आदमी ! आखिर····?

हरिपदम : सुजान·····!

सुजान : जी हाँ !

हरिपदम : कुछ नहीं।

[करुण-मौन निःस्तब्धता। भीतर से पूर्वी का प्रवेश। नीचे से ऊपर तक गहरे पीले गेरुआ वस्त्रों में। सिर के केश खुले हैं—प्रतिमा की तरह मौन-अविचल।]

हरिपदम : पूर्वी····दिले !····

[भीतर से तेज़ी में पिताजी का प्रवेश।]

पिताजी : पूर्वी····या दर्पन ?

हरिपदम : (हरिपदम चुप देखता रह जाता है।)

पिताजी : अब पहचान लो अपनी पूर्वी को !

सुजान : पिताजी !

पिताजी : हाँ, पिताजी इस पहचान में बाधक नहीं रहेंगे·····लो, मैं यहाँ से चला जा रहा हूँ। (भीतर जाते-जाते) मेरा ख्याल है सुजान, तुम्हारा भी यहाँ इस तरह खड़े रहना उचित नहीं है। आओ·····भीतर चले आओ।·····

[पिताजी के साथ सुजान का भीतर प्रस्थान]

हरिपदम : मुझे और परिचय नहीं चाहिए।···कोई और पहचान भी नहीं। मैं तुमसे अब कोई प्रश्न नहीं करूँगा। तुम जो कुछ भी हो·····वही मेरा है·····वही हम दोनों हैं···वहीं हम हैं।

पूर्वी : पर वह प्रश्न अब मुझे करना होगा।

हरिपदम : पर मैं कोई प्रश्न नहीं करने दूँगा। मैंने तुम्हें चाहा है। तुम कुछ भी हो···मैंने तुम्हें चाहा है·····तुम्हें!

पूर्वी : मेरे सहस्र कंठ मूक होकर तुम्हें पुकार रहे हैं—जिसे आज तक हम दोनों ने एक संग पुकारा था। तुम्हें आज एका-एक कितना आश्चर्य हुआ होगा···जो आश्चर्य तुम्हारे संग मुझे रोज़ होता था।

हरिपदम : नहीं, तुम मेरे लिए आश्चर्य नहीं हो।

पूर्वी : पर मैं हूँ···इसे मैं तोड़ नहीं सकी। इसे मैं जला भी न सकी। और अब मुझे जाना है।

हरिपदम : नहीं·····यह नहीं हो सकता।

पूर्वी : हाँ, अब यह नहीं हो सकता।

हरिपदम : तुम कुछ भी हो···तुम्हारा कुछ भी नाम हो···यह सब मेरे लिए कुछ महत्व नहीं रखता।

पूर्वी : यही मैंने भी सोचा था।

हरिपदम : और यही सच है!

पूर्वी : नहीं, सच उसी आदिम मनुष्य की तरह है।···मुझे जाना है···मुझे अनुमति दो!

[हरिपदम 'नहीं-नहीं' कहता हुआ पूर्वी को अपने अंक में कस लेता है। उसी समय भीतर से पिताजी, सुजान और ममता आते हैं। उन्हें देखते ही हरिपदम दूर हट जाता है।]

पूर्वी : मुझे जाना है···क्योंकि मैं पूर्वी नहीं हूँ।

हरिपदम : नहीं, तुम कुछ भी हो।

पूर्वी : वह पूर्वी थी···वह केवल पूर्वी का ही अधिकार था, केवल पूर्वी का···।

हरिपदम : पूर्वी···!

पूर्वी : प्यार का आधार छल नहीं हो सकता। और वह छल मैंने किया था···मैंने···पूर्वी ने नहीं।

हरिपदम : नहीं, वह छल नहीं था, वह अब भी छल नहीं है।

पूर्वी : सुनो···!

हरिपदम : (आरक्त-मुख देख रहा है।)

पूर्वी : बुद्ध ने पहली भिक्षा यशोधरा से माँगी थी। आज मैं पहली भिक्षा तुमसे माँगती हूँ···। दर्पन आज भिक्षुणी हुई है।

[हरिपदम मूर्तिवत् स्थिर है। पूर्वी तेज़ी से बाहर निकल जाती है। एक लम्बी निःस्तब्धता फैल जाती है।]

सुजान : बाहर कितना अंधकर है!

हरिपदम : अंधकार···!···नहीं! दर्पन आज मेरे सामने पारदर्शी हो गया। इसके आरपार एक नीलाकाश मैं देख रहा हूँ, जिसमें सितारों की एक नाव चल रही है। कभी वह नाव सहसा टूट जाती है, कभी फिर उसी तरह बनकर पंख फैलाने लगती है···।

[बाहर शून्य में दृष्टि गढ़ गयी है।]

(पर्दा)

नाटक के अध्यापकों के प्रति सुझाव

दर्पन नाटक कक्षा में पढ़ाते समय निम्नलिखित बातों पर अवश्य ध्यान देना चाहिए।

नाटक के पढ़ाने से पूर्व आधुनिक हिन्दी नाटक का संक्षिप्त परिचय देना छात्रों के हित में होगा।

दर्पन का मूल विषय क्या है—इसे पहले ही बताना छात्रों को नाटक अध्ययन के प्रति विशेष आकर्षण पैदा करेगा।

नाटक की देश, काल, परिस्थिति का पूरा परिचय देकर तब नाटक का अध्ययन-अध्यापन अर्थवान होगा।

नाटक का रंगमंच यथार्थवादी है—इसे समझना होगा, फिर भी उसी के आधार से पात्रों का जीवन ज्यादा समझ में आयेगा।

विभिन्न छात्रों द्वारा, विभिन्न चरित्रों के संवाद पढ़े जायें और सबका परस्पर सम्बन्ध स्थापित किया जाए।

नाटक पढ़ाने के बाद इसके विषय, इसकी समस्या पर, चरित्रों के प्रति छात्रों में विचार-विनिमय उनके लिए महत्वपूर्ण होगा।

और अन्त में इस नाटक को छात्रों द्वारा मंच पर अभिनीत अवश्य किया जाए। यदि बाकायदा मंच पर खेलना सम्भव न हो तो कक्षा में ही इसे पढ़कर खेला जा सकता है। क्योंकि नाटक अनुभूति का सत्य है—और यह अनुभूति प्रदर्शन, अभिनय के ही द्वारा सम्भव है।

प्रश्न और अभ्यास

विषय वस्तुगत :

१. दर्पन की समस्या क्या है—इसे अपने शब्दों में लिखो ।
२. दर्पन की कथा अपने शब्दों में लिखो ।
३. अपने जीवन का स्वामी स्वयं मनुष्य है, इस आधार से 'दर्पन' की समीक्षा करो ।
४. इस नाटक का नाम 'दर्पन' क्यों है—तर्क सहित उत्तर दो ।

चरित्रगत :

१. पूर्वी ने दर्पन को अपनी बहन क्यों और किस उद्देश्य से बताया ?
२. पूर्वी के चरित्र का संघर्ष या समस्या क्या है ?
३. हरिपदम और पूर्वी के चरित्रों की तुलना करो ?
४. इस नाटक में पिताजी, सुजान, दन्डी आदि चरित्रों के महत्व को बताओ ।

कला-शिल्पगत :

१. इस नाटक की भाषा और संवाद शैली पर प्रकाश डाली ।
२. यह नाटक यथार्थवादी है अथवा अयथार्थवादी, तर्क सहित उत्तर दो ।
३. इस नाटक के आदि, मध्य और अन्त पर प्रकाश डालो !

अभ्यासगत :

१. अपने अध्यापक से सारे चरित्रों के मर्म को समझो ।
२. इस नाटक में काव्य तत्व छिपा है—इसे ढूंढने की कोशिश अपने अध्यापक की सहायता से करो ।
३. अपने अध्यापक के निर्देशन में इस नाटक को मंच पर खेलो ।

नयी प्रणाली के प्रश्न और अभ्यास

१—(अ) 'द्वितीयाद्वितीयं भवति····भैय सदा दूसरे से होता है ।' दन्डी के इस कथन को समझाइए । यह भी बताइए यह कहने का उसका उदेश्य क्या है ?

(आ) 'यह संसार क्या है । उस ईश्वर का ही तो दर्पन है । इसमें जो चाहे, जब चाहे, अपना दर्शन पा सकता है ।

'डी के इस संवाद के कई अर्थ निकलते हैं । इस नाटक के संदर्भ में, अन्य चरित्रों के प्रसंग में, उन्हें बताइए ।

(इ) 'मेरा पीछा करने वाली, तू नहीं जानती, मैं क्या हूँ । मैं सोचती थी तू खत्म हो गई है, परन्तु इस कदर मेरे पीछे लगी है । अपराधी·····निर्मम·····(कापी को फाड़ने लगती है) हत्यारी ! तुझे अब जिन्दा नहीं रहने दूंगी । तेरे दर्पन का एक-एक टुकड़ा मैं पीसकर रख दूंगी । मैं हूँ नियंता अपने इस जीवन की । तेरा यह जड़ अस्तित्व मैं अब नहीं रहने दूंगी ।'

इस संवाद से पूर्वी के चरित्र का कौन-सा पक्ष प्रकट होता है ? क्यों ? कैसे ?

(ई) 'बहुत बार हुई है । मैं उससे इतनी दूर चली आई हूँ तब भी मुझे लगता है कि मैं अब भी उससे लड़ रही हूँ । (रुककर) सुनो, बौद्ध मठ में लामा महाराज से उसकी एक बार सख्त लड़ाई हुई थी । वह कहती थी कि····जब सत्य ही परिवर्तनशील है तो बौद्ध मठ में वही पुरानी रूढ़ियाँ क्यों हैं ? लामा महाराज ने उत्तर दिया···· ·····मानवता की सेवा के लिए । इस पर दर्पन बोली····· मानवता की सेवा तो प्रेम है । बुद्ध को तो अन्ततः उस प्रेम से ही शान्ति मिली थी । नहीं तो वह सुजाता की खीर और क्या है ? इसी द्वन्द में वह दर्पन कई बार अपने उस बौद्ध मठ को छोड़ कर न जाने कहाँ-कहाँ घूमती रही । हरिद्वार, ऋषिकेश, बद्रीनाथ, रामेश्वरम्, वृन्दावन, कलकत्ता, बम्बई, काशी और·····। वर्षों तक वह दार्जीलिंग से बाहर रही । यह है·····एक बार उसने मुझे लिखा था·····पूर्वी ! स्वर्ग यदि मन को स्वर्ग के समान न लगे, मुक्ति यदि प्राणों को शान्ति न दे सके, हृदय यदि सारे सुखों के बावजूद मृग के समान दूर कानन में भटकता फिरे तब उसकी क्या गति होगी ?'

पूर्वी के इस संवाद में से पूर्वी के चरित्र के विभिन्न भागों को प्रकट करने वाले अंशों को भावानुसार अलग-अलग कीजिए ।

(उ) 'मेरे सहस्र कंठ मूक होकर तुम्हें पुकार रहे हैं—जिसे आज तक हम दोनों ने एक संग पुकारा था। तुम्हें आज एकाएक कितना आश्चर्य हुआ होगा····जो आश्चर्य तुम्हारे संग मुझे रोज होता था।

इसमें छिपे काव्यतत्व को बताइए।

(ऊ) 'अंधकार·····!·····नहीं ! दर्पन आज मेरे सामने पारदर्शी हो गया। इसके आरपार एक नीला आकाश मैं देख रहा हूँ, जिसमें सितारों की एक नाव चल रही है। कभी वह नाव सहसा टूट जाती है, कभी फिर उसी तरह बनकर पंख फैलाने लगती है। इस अंश का भावार्थ बताइए।

२—निम्नलिखित शब्दों के अर्थ उदाहरण देकर लिखिए :

दर्पन, पारदर्शी, बाधक, सहस्र, भिक्षुणी, आदिम, अपदार्थ, तत्वमसि, अन्तर्धान, अनुभूति, रचना, आरपार, मूर्तिवत्, दर्प, असाध्य।

३—पृष्ठ ७२ से ७३ तक का दृश्य—

(अ) इस दृश्य का नाटक में क्या महत्व है ?
(आ) इससे पूर्वी के चरित्र पर क्या प्रकाश पड़ता है ?
(इ) इससे सुजान का कौन-सा मानवीय पक्ष प्रकट होता है ?
(ई) दर्शक और पाठक पर इस दृश्य का क्या प्रभाव पड़ता है ?

४—क्यों और कैसे ?

(क) हर सत्य परिवर्तनशील है।
(ख) प्रेम का आधार छल नही हो सकता।
(ग) सच और झूठ की कोई निरपेक्ष सत्ता नहीं होती।
(घ) दर्पन मेरे लिए पारदर्शी हो आता है।
(ङ) मेरी तुम्हारी खुशी अलग-अलग नहीं है।
(च) अपने से अतिरिक्त दूसरा समझना ही सारे दोष का मूल है।

(५) सही उत्तर ढूँढ़िये :

(अ) पूर्वी दर्पन से क्यों दूर चली आई ?

उत्तर : १. दोनों में झगड़ा होता था।
२. पुरानी दुश्मनी थी।
३. पूर्वी दर्पन का जीवन नहीं जीना चाहती थी।

(आ) पिताजी शादी के खिलाफ क्यों थे ?

उत्तर : १. पूर्वी ने उनका अपमान किया था।
२. हरिपदम पूर्वी दोनों चाहते थे।
३. पिताजी से पहले आज्ञा नहीं ली।
४. पूर्वी का कुलशील पता नहीं था।

६—अपनी इच्छा के पाँच प्रश्नों के उत्तर सिर्फ दो-तीन पंक्तियों में दीजिए :

१. पूर्वी कौन थी ?
२. दर्पन और पूर्वी में क्या अन्तर था ?
३. सुजान क्यों पूर्वी से प्यार करता था ?
४. दंडी कौन था ?
५. दंडी पूर्वी के पीछे-पीछे क्यों आया था ?
६. पूर्वी रोगियों की सेवा क्यों करने लगती थी ?
७. पूर्वी भिक्षुणी क्यों बनी ?
८. किसने कैसे बनाया ?
९. पूर्वी ने गाना क्यों गाया ?
१०. किस भाषा में गया ?
११. इस गीत को निकाल दिया जाये तो नाटक पर क्या असर पड़ेगा ?
१२. पूर्वी के चरित्र पर क्या असर पड़ेगा ?
१३. पिताजी क्रोधी हैं या शक्की ? कैसे ?
१४. हरिपदम अच्छा है या सुजान ?

१५. पूर्वी क्यों सुजान को बेहतर बताती है ?
१६. सुजान को 'स्वीट' क्यों कहती है ?
१७. पूर्वी के लिए दर्पन पारदर्शी कब होता है ?
१८. दंडी संस्कृतमय भाषा क्यों बोलता है ?
१९. इस नाटक का उद्देश्य क्या है ?

अन्तर्कथाएँ

आधुनिक हिन्दी नाटक पृष्ठ २, हरिश्चन्द्र-तारामती

सूर्यवंशी महाराजा हरिश्चन्द्र महान् सत्यवादी थे। स्वप्न में उन्होंने अपना राजपाट विश्वामित्र को दान कर दिया। दूसरे दिन विश्वामित्र दरबार में आ पहुँचे। महाराज ने कभी स्वप्न में भी झूठ नहीं बोला था, यही उनकी कीर्ति थी; अतः सत्य के पालन में उन्होंने अपना राजपाट वास्तव में विश्वामित्र को दान कर दिया। अब विश्वामित्र ने दक्षिणा माँगी। दक्षिणा के बिना दान अधूरा था। राजपाट के साथ कोष भी विश्वामित्र का हो चुका था, दक्षिणा कहाँ से देते। उन दिनों काशी शिवजी (विश्वनाथ) की नगरी मानी जाती थी और वह किसी राज्य में शामिल नहीं थी; अतः हरिश्चन्द्र ने वहाँ जाकर बाज़ार में आवाज़ लगाई कि कोई उन्हें, उनकी पत्नी को तथा पुत्र को मोल ले ले। एक ब्राह्मण ने दया करके तारामती को तथा पुत्र रोहितश्व को खरीद लिया। परन्तु दक्षिणा की राशि फिर भी पूरी न हुई। हरिश्चन्द्र ने अपने को एक डोम के हाथ बेच दिया और दक्षिणा चुका दी। डोम ने हरिश्चन्द्र को श्मशान में कफन माँगने के काम पर नियुक्त किया। एक दिन रोहितश्व को साँप ने डस लिया। बेचारी तारामती एकलौते बेटे के शव को श्मशान में लाई। हरिश्चन्द्र ने कफन माँगा। बेचारी बहुत रोकर अनुनय-विनय करने लगी कि कफन न माँगे; परन्तु सत्यनिष्ठ हरिश्चन्द्र ने स्वामी (डोम) को वंचित करना धर्म से पतित होना माना। हारकर तारामती अपनी साड़ी आधी फाड़कर देने लगी—इतने में विश्वामित्र प्रकट हो गए। उन्होंने कहा—महाराज ! धन्य हो, तुमने सत्य के पालन के लिए घोर दुःख सहे।

पृष्ठ ३३-३४, सुजाता

गौतम ने कड़ी तपस्या आरम्भ की। भोजन कम करते-करते चावल का एक दाना प्रतिदिन ग्रहण करने लगे। शरीर हड्डियों का ढाँचा-मात्र रह गया। एक दिन वे निरंजरा नदी में स्नान कर रहे थे कि लड़खड़ाकर गिर पड़े। बहुत देर तक मूर्छित पड़े रहे। उनके मन में सन्देह उठ खड़ा हुआ कि अतिशय त्याग से ज्ञान और मुक्ति की प्राप्ति हो सकती है। एक दिन तत्त्वचिन्तन करते हुए वे बरगद के पेड़ के नीचे बैठे हुए थे, उसी समय सुजाता नाम की एक सामन्तवधू सोने के कटोरे में खीर भर कर लाई। सुजाता ने पुत्र प्राप्ति के लिए वट-वृक्ष से मनौती मान रखी थी। पुत्र की प्राप्ति हो जाने पर वह अपनी मनौती पूरी करने के लिए खीर लेकर आई थी। पेड़ के नीचे सिद्धार्थ को बैठा देखकर वह बहुत प्रसन्न हुई कि उसकी भेंट स्वीकार करने के लिए स्वयं देवता ही मनुष्य रूप में पधारे हैं। उसने खीर सिद्धार्थ के आगे बहुत प्रेम से रख दी। अत्यन्त प्रेम से भेंट की हुई वह खीर सिद्धार्थ ने उतने ही प्रेम से खाई और उनका शरीर पूर्णतया स्वस्थ हो गया। उन्हें यह बोध प्राप्त हुआ—"एक मार्ग है काम-वासना में लिप्त रहकर सुख-भोग का और दूसरा है शरीर को नाना प्रकार की यातनाएँ देकर नष्ट कर देने का। ये दोनों अति-वाद हैं। श्रेष्ठ मार्ग तो वह है जो इन दोनों के बीच का है—मध्यम मार्ग।

डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल

आधुनिक भारतीय नाट्य लेखन और हिन्दी रंगमंच क्षेत्र में डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल का नाम अत्यन्त उल्लेखनीय और महत्वपूर्ण है। इनके नाटक अपने हिन्दी जगत में ही नहीं, भारत की प्राय: सभी प्रतिनिधि भाषाओं में अनूदित होकर लगातार प्रदर्शित किये जा रहे हैं। लाल की प्रत्येक नाट्य रचना मूलत: रंगधर्मी और जीवन यथार्थ के साक्षात्कार से उद्भूत होने के कारण निर्देशक, अभिनेता, दर्शकवर्ग और नाट्य अध्येताओं के लिये सदैव आकर्षण की वस्तु रही है।

'दर्पन' के अतिरिक्त लाल के अन्य प्रसिद्ध नाटक हैं—रातरानी, मादा कैक्टस, कलंकी, सिंदूर, अभिमन्यु, सूर्यमुख, कर्फ्यू, दूसरा दरवाजा और गंगामाटी।

पीताम्बर